

पंजाब केसरी प० पू० आ० भ० श्रीमद्विजयवल्लभ  
गुरु दीक्षा-शताब्दी के उपलक्ष में—

## देवद्रव्यसंबंधी मेरे विचार

( पत्रिका नं० १-२-३-४ )

\*

लेखक—शास्त्रविशारद-जैनाचार्य श्रीमद्विजय  
धर्मसूरीश्वरजी म० सा०

\*

प्रकाशक—एक मुमुक्षु तत्त्वदर्शी

\*

अनुवादक—मुनि प्रवीण विजय

पंजाब केसरी प० पू० आ० म० श्रीमद्विजय-  
बल्लभ गुरु दीक्षा-शताब्दी के उपलक्ष में—  
देवद्रव्यसंबंधी मेरे विचार

( पत्रिका नं० १-२-३-४ )

लेखक—शास्त्रविशारद-जैनाचार्य श्रीमद्विजय  
धर्मसूरीश्वरजी म० सा०

\*

प्रकाशक—एक मुमुक्षु तत्त्वदर्शी

\*

अनुवादक—मुनि प्रवीण विजय

- \* देवद्रव्य संबंधी मेरे विचार
- \* अनुवादक-मुनि प्रवीण विजय
- \* प्रकाशक-एक मुमुक्षु तत्त्वदर्शी
- \* सर्वाधिकार-लेखक के अधीन
- \* प्राप्तिस्थान-श्री आत्मानंद जैन बालाश्रम  
हस्तिनापुर, मेरठ (यू० पी०)
- \* मूल्य-पढ़ो-पढ़ाओ और सोचो-समझो !
- \* मुद्रक : साहित्यकार प्रेस  
भदानी, वाराणसी ।

## दो शब्द

बन्धुओं ! गुजराती से हिन्दी में अनुवाद करना मेरे लिए बिल्कुल नया विषय है, अतः हो सकता कि अक्षरशः अनुवाद न हो पाया हो। इस कारण त्रुटियाँ होना स्वाभाविक है, किन्तु पाठक-वृन्द शब्दार्थ की ओर दृष्टिपात न कर भावार्थ की तरफ ही ध्यान देंगे। शास्त्रविशा-

रद प० पू० आ०

भ०श्रीमद्वि-

जयधर्म-

सूरीश्वरजी म०सा० द्वारा गुर्जर भाषा में लिखित “देव-द्रव्य सम्बन्धी मारा विचारों” नामक पुस्तक राखी (राज०) के ज्ञानभण्डार से उपलब्ध हुई। पुस्तक का आद्योपान्त अध्ययन किया, तत्पश्चात् राखी श्रीसंघ के समक्ष मैंने पुस्तक का हिन्दी भाषा में अनुवाद करने का अपना प्रस्ताव रखा तथा साथ - साथ पुस्तक

सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण बातें भी बताई। श्री संघ ने मेरे

प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया । तदनन्तर हिन्दी अनुवाद करना प्रारम्भ किया, किन्तु विहार के कारण आशानुरूप कार्य नहीं हो पा रहा था । जब फिरोजाबाद (यू०पी०) में चातुर्मास था, तब फिरोजाबाद श्री संघ के विशिष्ट व्यक्तियों ने उस पुस्तक को पढ़ा और उन्होंने भी अपना अभिप्राय व्यक्त किया कि इस पुस्तक का प्रकाशन हिन्दी भाषा में अवश्यमेव होना चाहिए । उस समय उत्साह में और भी अभिवृद्धि हुई । पुनः अनुवाद करना प्रारम्भ किया, किन्तु चातुर्मासिक कार्यक्रमों की व्यस्तता के कारण पूर्ण नहीं हो पाया । चातुर्मासानन्तर विहार करते हुए चातुर्मासार्थ कौशाम्बी तीर्थ पहुँचें । इस चातुर्मास में भी कुछ लेखन कार्य हुआ । कौशाम्बी चातुर्मास के पश्चात् अध्ययनार्थ हम वाराणसी आये । उस समय श्री पार्श्वनाथविद्याश्रम शोधसंस्थान के समदर्शी, निष्पक्ष, श्रद्धासम्पन्न निदेशक डा० श्री सागरमलजी जैन का योगदान अतिश्लाघनीय रहा । उन्होंने ही लेखनकला हेतु प्रोत्साहन दिया । श्रीपार्श्वनाथ विद्याश्रम का वस्तुतः अध्ययन-लेखन के लिए अनुकूल वातावरण होने के कारण ही कार्य शीघ्र सम्पन्न हो सका ।

• हुनि प्रवीण विजय

## \* पत्रिका नं० १ \*

समाज का दुर्भाग्य कहो अथवा काल का प्रभाव कहो ! किसी भी कारण से अभी थोड़े समय से जैन समाज में 'देवद्रव्य' सम्बन्धी चर्चा ने इतना विषम-रूप धारण किया है कि किसी भी शासन-प्रेमी के मन में अवश्यमेव दुःख होता होगा। इस प्रश्न या चर्चा में किसी प्रकार का विशेष तथ्य ही नहीं है। उसके लिए इतनी बड़ी खटपट ? इतना जबर्दस्त विरोध और इतने अधिक झगड़ें ? ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी चर्चा या प्रश्न को वैर-विरोध का साधन बना देना बुद्धिमान-समझदार व्यक्ति के लिये शोभाप्रद नहीं है। कथा, वाद या चर्चा के यथार्थ स्वरूप के ज्ञाता व्यक्ति तो विरोधियों के प्रति भी दुर्भाव को नहीं रखते हुए, समझ एवं विवेक पूर्वक ही उनको भी प्रत्युत्तर देते हैं परन्तु इस 'देवद्रव्य' की चर्चा का विषमवाद तो इतना बढ़ गया है कि लोग क्लेश और झगड़े-रगड़े में ही अपने अमूल्य समय का व्यय करते और कर्म बाँधते हुए दृष्टि-गोचर होते हैं। जैनागमों और जैन शास्त्रों का सुनिपुण बुद्धि से अवलोकन किया जाय तो पूज्य आचार्यों,

महात्माओं एवं शास्त्रों के प्रति कदापि शंका ही उत्पन्न नहीं हो, परन्तु 'खंडे खंडे पाण्डित्यम्' वाले और नयवाद की विशाल-दृष्टि से विचार न करने वाले अपनी तुच्छ प्रकृति के बशीभूत होकर पूज्य महा-पुरुषों की तरफ अरुचि एवं अपनी आक्षेपक बृत्ति का प्रदर्शन करें तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

'देवद्रव्य' के लिए तत्त्वदृष्टि से विचार करने पर विवाद का कोई प्रश्न ही खड़ा नहीं होता है। 'मूर्ति' के साथ 'देवद्रव्य' का अतिघनिष्ठ, संबन्ध है। जो 'मूर्ति' को स्वीकार करते हैं वे 'देवद्रव्य' का निषेध कर ही नहीं सकते हैं, क्योंकि जहाँ 'मूर्ति' होती है वहाँ 'मूर्ति' के लिए उपयोगी वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती ही है। मूर्ति के लिए समर्पणबुद्धि से अर्पण की हुई वस्तुएँ ही 'देवद्रव्य' हैं और जो वस्तुएँ समर्पण बुद्धि से अर्पित नहीं की जाती हैं, उन्हें 'देवद्रव्य' नहीं कहा जा सकता। इस बात का स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा। अङ्ग-उपाङ्ग और प्रामाणिक ग्रन्थों में तो आभूषण पूजा का भी विधान किया हुआ है, परन्तु कई लोगों का ऐसा भी कथन है कि "प्राचीन समय में देव मन्दिर शहरों में नहीं थे और मंदिरों के दरवाजे भी नहीं थे" इत्यादि। यह कथन तो केवल अज्ञानता

सूचक ही है। प्राचीन नगरों के वर्णन में स्थान-स्थान पर देवमंदिरों का भी वर्णन आता है। विशाला जैसी नगरी में असंख्य मंदिर होने के कारण 'विशाला' का नाम ही 'बिहार' पड़ा था। चूंकि 'विहार' शब्द 'जिन-चैत्य' बोधक है। इसके लिए विशेष लिखना लगभग सिद्धसाधन जैसा है। अतः इस पर अधिक नहीं लिखते हुए, जिस बात पर ज्यादा विचार-भेद देखने में आता है उसी तरफ ज्यादा ध्यान देंगे।

विचार भेद वाला विषय है- 'देवद्रव्य'। 'देवद्रव्य' वस्तुतः सत्य है। जहाँ मूर्ति है, वहाँ 'देवद्रव्य' निश्चित होगा ही। मूर्ति संबंधी द्रव्य अर्थात् मूर्ति के लिए समर्पण बुद्धि से अर्पित किए हुए 'द्रव्य' को ही 'देवद्रव्य' कह सकते हैं। इस बात का कथन सर्वप्रथम ही कर दिया गया है। अतः 'देवद्रव्य' कोई वस्तु ही नहीं है इस बात का तो निराकरण हो ही चुका है। अब 'देवद्रव्य' के व्यवस्था के संबंध में कुछ विचार करेंगे।

'देवद्रव्य' के नाम से जिस 'द्रव्य' का निर्माण हो गया है उस 'द्रव्य' का पाप-कार्यों में तो व्यय कर ही नहीं सकते हैं। 'देवद्रव्य' का व्यय तो 'देवमूर्ति' अथवा 'देव मंदिर' के लिए ही हो सकता है। देव को समर्पित वस्तु का यदि देवभक्त ही भक्षण कर ले तब तो सरासर अन्याय ही है, विवेकहीनता ही है। यही जैन शासन



की शैली भी है। अरे ! यह तो छोटा बच्चा भी समझता है कि देव के वीतराग होने के कारण उनका द्रव्य के साथ कुछ भी संबंध नहीं है। फिर भी 'देवद्रव्य' शब्द सुघटित है यह बात भी तो चौकस है। 'मध्यमः पदलोपी' समास के ज्ञाता और दो पदों के बीच पूर्ण अर्थ के योजक को 'देवद्रव्य' शब्द कदापि अघटित नहीं लगेगा।

परन्तु खेद का विषय है कि वर्तमान काल में 'देवद्रव्य' की व्यवस्था (कुछ स्थलों को छोड़ कर) लगभग सर्वत्र बहुत ही बिगड़ गई है। देशकाल को नहीं जानने वाले, रूढ़ि की व्याख्या को नहीं समझने वाले और मन में बैठी हुई वास्तविक प्राचीन परम्परा से ईश्वर वाक्यवत् चिपके रहने वाले मंदिरों और पेड़ियों के ट्रस्टी लोग एवं कितने ही धर्मान्ध व्यक्ति अपने ऊपर रही हुई 'देवद्रव्य' सम्बन्धी जिम्मेदारी का कुछ भी ख्याल नहीं करे तो क्या यह जबर्दस्त अनुचित बात नहीं है ?

शास्त्रों के कथनानुसार-प्रमाणानुसार तो 'देव-द्रव्य' श्रावक अथवा अन्य किसी व्यक्ति को भी व्याज पर देने या रखने का अधिकार नहीं है। कदाचित्, अपवाद मार्ग से देना या रखना पड़े तो बदले में आभूषण या

अन्य किसी ऐसी वस्तु को गिरवी रखकर दे या रखे । इस बात को मन्दिरों और पेढियों के ट्रस्टी लोग, गुरु-मुख से श्रवण करने पर भी, जानने पर भी कार्यान्वित नहीं करते हैं, अमल में नहीं लाते हैं । वे लोग अपनी ही मनमानी करते हैं । यह वास्तव में शोचनीय विषय है । परिणामतः यदि द्रव्य का नाश होता है तो दोष के भागी कार्यकर्ता ही होते हैं । सुना जाता है कि कहीं-कहीं पर तो 'देवद्रव्य' का व्यय ऐसे-ऐसे पाप-कार्यों में होता है जो शास्त्र-दृष्टि से एक सामान्य जैन के लिए भी उचित नहीं है परन्तु समझना चाहिए कि देवद्रव्य का व्यय ऐसे पापकार्यों में करने का किसी को भी अधिकार नहीं है । देवद्रव्य का व्यय केवल देवों की आशातना को दूर करने के लिए ही होना चाहिए, किन्तु ऐसी आशातनाओं को दूर करने की तरफ तो लक्ष्य ही किसका है ? एक मन्दिर का कार्यकर्ता, समीपवर्ती दूसरे मंदिर की यदि दिवाल गिरती हो, अथवा मन्दिर में भगवान की आशातना होती हो तो भी देवद्रव्य का व्यय करने में संकोच करता है तथा मंदिर एवं भगवंत की आशातना को देखकर भी वह इस प्रकार से आँख-मिचौनी कर जाता है जैसे इस मंदिर या भगवंत-प्रतिमा से उसका कुछ भी संबंध न हो । तो क्या इससे उन कार्यकर्ताओं का उस देवद्रव्य के ऊपर मोह

प्रकट नहीं होता है? अथवा उनके हृदय में गलत मन्तव्य भर गया हो ऐसा सिद्ध नहीं होता है?

मेरा तो यह दृढ़ मन्तव्य है कि ऐसे परिणाम का मुख्य कारण देवद्रव्य में असाधारण वृद्धि का होना है। ग्राम-ग्राम के और मुख्य कर बड़े-बड़े शहरों के मंदिरों के पुराने हिसाब-किताब को यदि देखा जाय तो ऐसे कुछ ही मन्दिर होंगे जिनका द्रव्य श्रावकों अथवा अन्यो के पास नहीं रह गया हो। गाँव-गाँव में विहार करने वाले साधु-मुनिराजों को अनुभव है कि वे जहाँ जाते हैं वहाँ श्रावकों में अधिकतर इसके लिए ही रगड़े-झगड़े होते नजर आते हैं। 'अमुक व्यक्ति चौपड़े नहीं बता रहा है फलानचन्द के यहाँ इतने रुपये रखे हुए थे परन्तु वह अब जवाब ही नहीं देता है'। 'महाराज अमुक चंद के यहाँ आपको गोचरी जाना उचित नहीं, है क्यों कि वह व्यक्ति देवद्रव्य का भक्षण करता है।' इत्यादि फरियादे-शिकायतें जहाँ देखो वहाँ चालू ही रहती है। इसका मुख्य कारण पहले ही बताया जा चुका है कि देवद्रव्य में असाधारण वृद्धि का होना ही है। देवद्रव्य जैसे-जैसे बढ़ता जाय वैसे-वैसे जीर्णोद्धारदि कार्यों में उसका व्यय होता जाये तो ऐसा-प्रसंग ही खड़ा नहीं हो। इसलिए मेरा तो यही कहना है कि जिन-जिन मंदिरों एवं पेड़ियों के हस्तक देवद्रव्य

के नाम से जो भी पैसा एकत्रित हो उसका व्यय जीर्णोद्धार के कार्यों में होना चाहिए । मारवाड़, मेवाड़ और उत्तर प्रदेश में ऐसे सैकड़ों मंदिर हैं जिनका जीर्णोद्धार होना अत्यधिक आवश्यक है । मुझे तो लगता है कि जीर्णोद्धार की अपेक्षा रखने वाले इतने अधिक मंदिर हैं कि 'देवद्रव्य' के नाम से एकत्रित संपूर्ण धनराशि का व्यय हो सकता है । 'देवद्रव्य' का व्यय करने के लिए हमारे समक्ष इतने आवश्यक कार्य विद्यमान हैं फिर भी उस द्रव्य का उन कार्यों में व्यय नहीं करते हैं और यदि करते हैं तो लोगों को सिर्फ दिखाने के लिए अल्पांश में ही करके अन्य द्रव्य का व्यापार तथा व्याजादि द्वारा वृद्धि करने में तथा दूसरों की खुशामद करने में अपव्यय करके देवद्रव्य का दुरुपयोग किया जाता है ।

वास्तविक बात तो यह है कि इस समय में 'देवद्रव्य' के खजाने को बढ़ाने की किसी प्रकार की आवश्यकता महसूस नहीं होती है क्योंकि देवद्रव्य के नाम से चाहे कितना ही बड़ा खजाना भरा हुआ क्यों न हो, परन्तु दुष्काल-अकाल-पीड़ित, भूख से तड़फते लोगों के लिए उसमें से एक कोड़ी भी काम में नहीं आ सकती है । इसके लिए कोई भी आस्तिक व्यक्ति सलाह भी नहीं दे सकता है । जब ऐसी स्थिति है तब उसकी वृद्धि

की तरफ ही एकमात्र लक्ष्य रखना न तो बुद्धिमानो है, न योग्य है। इसके लिए तो सीधा-सरल यही मार्ग है कि जो 'देवद्रव्य' एकत्रित हो उसका सद्व्यय जीर्णोद्धार के कार्यों में कर लेना चाहिए तथा अब से पूजा-आरती आदि में बोझी जाने वाली बोलियों की आय 'देवद्रव्य' के खाते में न ले जाकर, साधारण खाते में ले जाने का श्री संघ को निर्णय कर लेना चाहिए, क्योंकि यह बात सुप्रसिद्ध है कि 'देवद्रव्य' के नाम से कल्पित द्रव्य का व्यय केवल मंदिरों एवं मूर्तियों के निर्माण कार्य में ही कर सकते हैं जबकि साधारण खाते में कल्पित द्रव्य का व्यय सातों ही क्षेत्रों में हो सकता है।

कदाचित् किसी को मान्यता ऐसी हो कि यदि 'बोली का द्रव्य' साधारण खाते में ले जायेंगे तो उस द्रव्य को हजम करने में भी हिचकिचायेंगे नहीं, डरेंगे नहीं, परन्तु यह विचारधारा ठीक नहीं है क्योंकि अब भी भ्रष्ट बुद्धिवाले 'देवद्रव्य' का भी भक्षण करते हुए नहीं डरते हैं, परन्तु यह विचारणीय प्रश्न है कि यह स्थिति कब और क्यों उत्पन्न होती है? जब द्रव्य सीमारहित बढ़ जाता है अर्थात् अत्यधिक एकत्रित हो जाता है। सैकड़ों-हजारों लोगों को दिया जाता है, बड़ी-बड़ी पेढियाँ उस द्रव्य से चलाई जाती हैं तभी ऐसा परिणाम आता है। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि द्रव्य

इकट्ठा करके पडा रखने की आवश्यकता ही क्या है ? साधारण खाते में एकत्रित द्रव्य का सातों ही क्षेत्रों में उचित प्रमाण से क्यों नहीं व्यय किया जाता ? यदि द्रव्य का आवश्यकतानुसार व्यय होता रहे तो दूसरे को हजम करने का प्रसंग-अवसर ही प्राप्त नहीं हो । इन प्रसंगों के खड़े होने का मुख्य कारण 'देवद्रव्य' में वृद्धि, वृद्धि और वृद्धि का लोभ ही है इसके अतिरिक्त अन्य कोई कारण नजर नहीं आता । इस प्रकार की लोभ-प्रवृत्ति नहीं रखते हुए यदि निर्धारित निर्णयानुसार उसकी व्यवस्था होती रहे तो सप्तक्षेत्रों का पोषण होता रहेगा और किसी को हजम करने का अवसर भी नहीं मिलेगा ।

अब तो यह भी बताना आवश्यक है कि उपर्युक्त कथनानुसार पूजा-आरती आदि की बोली का द्रव्य साधारण खाते में लेजाने में किसी प्रकार का शास्त्रीय दृष्टि से दोष दिखाई नहीं देता है । बोलियाँ बोलने की परिपाटी कुछ ही वर्षों पूर्व सुविहित आचार्यों एवं श्री संघ ने विशेष कारण से ही देशकालानुसार बनाई है । मंदिरों और मूर्तियों के रक्षार्थ अमुक-अमुक बोलियों का द्रव्य 'देवद्रव्य' खाते में ले जाने का निर्णय किया है और उस समय में ऐसा करना आवश्यक भी था । इन बोलियों के बोलने का मुख्य उद्देश्य तो यही है कि

किसी भी धार्मिक कृत्य में क्लेश न हो। गृहस्थ लोग पूजा करने जाते हैं उस समय यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रथम पूजा कौन करे ? कभी-कभी तो झगड़े भी हो जाते हैं। इन रगड़े-झगड़ों के बचाव हेतु और बलवान निर्बल को धनवान् निर्धन को तथा विद्वान् अज्ञानी को दबाने का प्रयत्न न करें, इसीलिए श्री संघ ने ऐसा निर्णय किया कि जो सबसे ज्यादा बोली(घी)बोलेगा वह प्रथम पूजा करेगा (इसी प्रकार आरती आदि दूसरे प्रसंगों पर भी समझ लेना) तथा 'उन - उन बोलियों का घी (द्रव्य) 'देवद्रव्य' के खाते में जायेगा। यह सिर्फ संघ की कल्पना मात्र है। शास्त्रीय आज्ञा नहीं है। उसी का यह कारण है कि प्रत्येक ग्राम या शहर में एक ही प्रकार का नियम (रिवाज) नहीं है। किसी गाँव में घी का भाव बीस रुपए मण है, तो कहीं १५ रुपए मण है। किसी गाँव में ५ रुपए मण तो कहीं ढाई रुपए मण ही है। कहीं-कहीं सवा रुपए मण भी घी का भाव देखने में आता है। अर्थात् जिस गाँव या शहर में वहाँ के संघ को जैसा भी उचित लगा वैसा नियम बना लिया। इस कल्पना के विषय में ऐसा तो किसी प्रकार का तत्व दृष्टिगोचर नहीं होता है जिसका 'देवद्रव्य' के साथ किसी प्रकार का संबंध हो। यह तो सिर्फ संघ की ही कल्पना थी तथा वह कारण विशेष को लेकर ही

थी । अब ऐसा कारण नहीं रहने के कारण एवं कितनी ही दूसरी परिस्थितियाँ खड़ी होने के कारण उन-उन बोलियों का द्रव्य 'साधारण खाते' में ले जाने का श्री संघ निर्णय करे तो निःसंकोच कर सकता है तथा इस समय में ऐसा करने की आवश्यकता भी दिखाई देती है ।

इसी प्रकार पूजा, वरघोड़ा, आरती, स्नात्रमहोत्सव, स्वप्न, पालना एवं ऐसी अन्य बोलियों का कारण भी उपर्युक्त कथनानुसार प्रत्येक का समाधान समझ लेना तथा उन-उन बोलियों से प्राप्त द्रव्य का व्यय समया-नुसार भिन्न-भिन्न शुभमार्गों में हो सकता है और इसी कारण से वर्तमान में भी प्रतिस्पर्धा से बोली जाने वाली बोलियाँ के द्रव्य को 'साधारण द्रव्य' के रूप में कल्पित किया ( मान लिया ) जाय तो वह आवश्यक और प्रशस्त भी है । इससे किसी को को ऐसा भयरखने की आवश्यकता नहीं है कि इस प्रकार की बोलियों के द्रव्य को साधारण खाते में कैसे ले जा सकते हैं? क्यों कि पहले ही कहा जा चुका है कि देव को अर्पण बुद्धि से अर्पित वस्तु ही देवद्रव्य के नाम से कहीं जाती है अन्य नहीं । उदाहरण स्वरूप जब देवाधिदेव की आँगी रचाई जाती है तब लाखों रूपयों के आभूषण और जवाहरा-तादि लोग भगवान के अंग पर चढ़ाते हैं और दूसरे दिन पुनः अपने-अपने घर ले जाते हैं इस रहस्य को



यदि बराबर समझ ले, तो मेरे उपर्युक्त कथन में किसी को किञ्चित् भी बाधा उत्पन्न नहीं होगी। अर्थात् जो गृहस्थ जिस समय अपने यहाँ से आभूषण तथा जवाह-रातादि लाकर सिर्फ एक दिन की अंग रचना के लिए ही भगवान पर चढ़ाता है, उस समय उस गृहस्थ की भगवान को समर्पण बुद्धि न होने के कारण ही वह दूसरे दिन पुनः अपने घर ले जाता है इसी प्रकार बोली के द्रव्य के लिए भी संघ जैसी कल्पना करने की इच्छा रखता हो वैसी कल्पना कर सकता है और इस समय साधारण खाते में ले जाने का उपदेश इसीलिए दिया जाता है कि जहाँ देखो वहाँ प्रायः साधारण खाते में ही कमी नजर आती है। उस समय किसी भी गाँव या शहर का संघ अपने निर्धारित (निर्णीत) कार्य को भी पूर्ण नहीं कर सकता है। दूसरी ओर धीरे-धीरे समय भी बहुत ही नाजुक आ रहा है। ऐसी परिस्थिति में यदि साधारण खाते को पुष्ट नहीं किया जायेगा और सभी का सभी द्रव्य 'देवद्रव्य' में ही ले जाया जायेगा तो उसका परिणाम यह आयेगा कि ऐसे विषय समय में मनुष्यों के मन उस 'देवद्रव्य' की तरफ आकर्षित हुए विना रहेंगे नहीं। अतः भविष्य में ऐसी विषम स्थिति उपस्थित नहीं होने पाये इसके लिए अभी से सुव्यवस्था की तरफ प्रत्येक ग्राम या शहर

के संघों को अवश्यमेव ध्यान देना चाहिए नहीं तो यह स्पष्टता पूर्वक कहना पड़ेगा कि साधारण द्रव्य की तरफ जैसा चाहिए वैसा ध्यान नहीं देने के कारण वे लोग भयंकर प्रायश्चित के भागीदार होते हैं। यह शत-प्रतिशत सत्य है।

कई लोग स्वप्नों की बोलियाँ के घी (द्रव्य) को 'देवद्रव्य' में ले जाने का विशेष आग्रह करते हैं। वे यह समझते हैं कि ये बोलियाँ भगवान के निमित्त से बोली जाती हैं परन्तु ऐसा नहीं है। ये बोलियाँ भी प्रतिस्पर्धा की ही बोलियाँ हैं। किसी भी व्यक्ति को बुरा न लगे इसीलिए ही ये बोलियाँ भी बोली जाती हैं। जैसे पूजा, आरती आदि के प्रसंगों में बोली बोली जाती है इसी प्रकार की ये बोलियाँ भी हैं। इसलिए उन बोलियों का द्रव्य भी साधारण खाते में ले जाने में किसी प्रकार का दोष लगता ही ऐसा प्रतीत नहीं होता है। गृहस्थावस्था में भी भगवान् अपनी सम्पत्ति का भाग कर दूसरों को देते हैं और वे भी ले लेते हैं, जबकि हम लोग तो प्रतिस्पर्द्धा के लिए ही बोलियाँ बोलते हैं और वह द्रव्य साधारण खाते में नहीं ले जा सकते ऐसी मान्यता वालों पर दया उत्पन्न होती है। साथ ही साथ आश्चर्य भी होता है कि ऐसा क्यों? अपनी कल्पना से बोली जाने वाली किसी भी बोली के द्रव्य

को साधारण खाते में ले जा सकते हैं परन्तु कार्य के प्रारंभ में ही साधारण खाते में ले जाने का निर्णय श्रीसंघ को कर देना चाहिए । 'देवद्रव्य' के निर्णय से जो एकत्रित द्रव्य होता है, उस द्रव्य को साधारण खाते में नहीं ले जा सकते हैं । जो द्रव्य साधारण खाते में इकट्ठा होता है उसका व्यय भी समयानुसार ही होना चाहिए । परन्तु आजकल कितने ही ट्रस्टी लोग अपनी इच्छानुसार व्यय करते हैं ऐसा भी नहीं होना चाहिए । कई साधुओं, पंन्यासों एवं आचार्यों आदि का ऐसा अभिप्राय है कि पूजा आदि के लिए बोली जाने वाली बोलियों का जो भाव ( किंमत ) हो उसमें वृद्धि करके प्राप्त द्रव्य को साधारण खाते में ले जाना चाहिए । परन्तु वास्तव में तो इसका परिणाम नहींवत् ही है क्योंकि भाव बढ़ाने से जिसका सौ मण घी बोला जाता था उसका ५० मण ही बोला जायेगा । अभी भी जिस गाँव या शहर में १६ से लगाकर २० रूपयों का भाव रखा गया है वहाँ किसी भी कार्य के लिए ५-२५ मण घी की बोली भी मुश्किल से बोली जाती है । जहाँ ५ रुपये मण का भाव होता है वहाँ सैकड़ो मण की बोली बोली जाती है और जहाँ ढाई या सवा रुपये मण का भाव है वहाँ हजारों मण की बोली लगती है । अतः कहना पड़ेगा कि जहाँ भाव ज्यादा वहाँ

बोली कम और जहाँ भाव कम वहाँ बोली ज्यादा । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव बढ़ाने से भी समस्या हल हो जाय वह भी दुष्कर ही है अतः ऐसी निरर्थक कल्पनाएँ करने के बजाय बोली का सभी द्रव्य साधारण खाते में ही ले जाया जाय तो इसमें परेशानी ही क्या है ? और क्या बुराई है ? वास्तविक बात को लोगों को बताने में संकोच भी नहीं करना चाहिए । जिस खाते से सभी क्षेत्र पुष्ट होते हो, उस खाते को सम्पूर्णतया पोषने में क्या बाधा है और इस प्रकार का उपदेश देने में भी क्या दोष है ? यदि किसी प्रकार का शास्त्रीय व्यवधान नहीं हो । तो फिर सत्य बात बताने में विषम मार्ग की खोज करने से क्या लाभ ? 'परम्परा'-'परम्परा, करके जैसा चलता है वैसा ही चलने देना. यह क्या उचित हैं ? परम्परा भी अलग-अलग गाँवों और शहरों की अलग-अलग दिखाई देती है । तब क्या ये परम्पराएँ शास्त्रीय हैं ? यदि ये परम्पराएँ शास्त्रीय नहीं होकर काल्पनिक ही है तो उन काल्पनिक कल्पनाओं को बदलने में संकोच भी किस बात का ? समयानुसार अवश्यमेव परिवर्तन होना ही चाहिये ।

धर्माचार्यों का धर्म है कि सत्य को नहीं छुपाना चाहिए । यथार्थ को जनता के समक्ष प्रकट करना चाहिए । उदासीनवृत्ति में रहने से अब काम नहीं

चलेगा । उदासीन वृत्ति में रहने वाले और वास्तविक शक्ति का गोपन करने वाले धर्मगुरु वास्तव में प्रायः श्रित के भागी बनते हैं । इस बात को नहीं भूलना चाहिए । समाज के कल्याणार्थ किसी तरह के सत्य विचारों को प्रकाशित करने में भक्तों की दाक्षिण्यता रखनी उचित नहीं है ।

अन्त में प्रत्येक ग्राम के संघों को विशेष रूप से सूचित कर विरमता हूँ कि समयज्ञ बनकर बोलियों में बोले जाने वाले द्रव्य को साधारण खाते में ले जाने का निर्णय कर लेना चाहिए और जो देवद्रव्य हो उसका जीर्णोद्धार के कार्यों में व्यय कर देना चाहिए ।

ता०क०“एक बात बताना आवश्यक समझता हूँ कि उपरोक्त कथनानुसार साधारण खाते की तरफ मेरा ध्यान अभी ही गया हो ऐसी बात नहीं है, परन्तु वर्षों से है । काशी की ओर से विहार करके गुजरात-काठियावाड में आने के पश्चात् मेरे मन में इन विचारोंकी स्फुरणा हुई थी और इसी कारण उपरियाला तीर्थ में संवत् १९७२ में मैं गया, तब वहाँ के मेले में उपस्थित ( एकत्रित ) लोगों को मैंने साधारण खाते को पुष्ट करने का उपदेश दिया था, परिणामतः उस समय उस तीर्थ में लगभग २५०० रुपये साधारण खाते में

इकट्ठे हुए थे । जबकि 'देवद्रव्य' में सिर्फ नाममात्र की ही रकम हुई थी । इसी प्रकार मैं अपने इन विचारों को विहार में प्रत्येक स्थान पर प्रकाशित करता हुआ आया हूं, इसलिए किसी को यह नहीं समझ लेना चाहिए कि मैं इन विचारों को अभी ही प्रकाशित कर रहा हूं ।



## पत्रिका नं०-२

बोली के द्रव्य को साधारण खाते में नहीं ले जा सकते हैं क्या ?

समयानुसार संसार में सदैव प्रवृत्ति-निवृत्ति होती ही रहती है। पहले ऐसे कई रीति-रिवाज थे जो पूर्ण जोश से चलते थे, परन्तु उनका अब नाम-निशान भी देखने को नहीं मिलता है, तथा ऐसे अनेक रीति-रिवाज जो सैकड़ों या हजारों वर्ष पूर्व छद्मस्थों की कल्पना में भी नहीं होंगे, वे समय की प्रबलता से अब प्रचलित हो गये हैं। समय का प्रभाव ही ऐसा है कि मनुष्यों की बुद्धि और विचारों का परिवर्तन होता रहता है। हाँ, जो कुदरती रीति-रिवाज हैं उनमें परिवर्तन नहीं होता है। हाथ से खाने का जो कुदरती नियम है उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता है अर्थात् पैर से खाया नहीं जा सकता। अनादिकाल से चले आ रहे इन प्राकृतिक नियमों में कभी परिवर्तन हुआ नहीं और होगा भी नहीं। परिवर्तन तो उन्हीं रीति-रिवाजों में हो सकता है जिन रीति-रिवाजों को मनुष्यों ने बनाया है। धार्मिक रीति-रिवाज भी मनुष्यकृत ही हैं। यही कारण

है कि कितने ही धार्मिक रीति-रिवाजों में यदा-तदा परिवर्तन होता रहता है। यह बात किसी भी अनुभवी व्यक्ति के ज्ञान से बाहर नहीं है। इस प्रकार उन धार्मिक अनुष्ठानों में परिवर्तन करने से प्रभु-आज्ञा का भंग भी नहीं होता है क्यों कि प्रभु ने अपने मुखारविंद से ही द्रव्य - क्षेत्र काल- भाव को ध्यान में रखकर ही धार्मिक क्रिया-कलापों को करने की आज्ञा दी है। उस आज्ञा को ध्यान में रखकर ही कारण विशेष के उपस्थित होने पर महान् आचार्य एवं श्रीसंघ उन नियमों में परिवर्तन करते आये हैं।

इस बात की पुष्ट्यर्थ अनेक उदाहरण भी मौजूद (तैयार) हैं। उनमें से तीन-चार उदाहरणों को पेश करूँगा।

प्रथम-हम सभी जानते हैं कि पूर्व में सभी साधु श्वेत वस्त्र ही रखते थे, परन्तु जब से साधु-सन्त शिथिलाचारी हो गये और सत्यासत्य को पहचानना मुश्किल हो गया तब शिथिलाचारियों और त्यागी-संवेगी साधुओं की पहिचान के लिए श्रीमान् सत्य-विजय पंन्यास के आधिपत्य में वस्त्रों को रंगने का क्रम चालू हुआ। द्वितीय-प्रथम साधु लोग क्षेत्रों के गुणों को ध्यान में रखकर चातुर्मास करते थे जबकि आजकल



गुर्वादिक की आज्ञानुसार करते हैं। तृतीय-प्रथम कल्पसूत्र की वांचना मात्र साधु भगवंत ही करते और साध्वियाँ सुनती थीं जबकि पीछे से संघ समक्ष वांचन प्रारम्भ हुआ और अब भी इसी प्रकार संघ-समक्ष पढ़ा ही जाता है।

चतुर्थ-पहले साधु बाँस ( वंश ) के डंडे रखते थे और वंशडंड रखने की शास्त्रीय आज्ञा भी है जब कि आज शीशम, सागवान या वट के देखने में आते हैं।

इसी प्रकार हम अनेक रीति-रिवाजों (नियमों) में परिवर्तन देखते हैं। अतः विचारणीय तो यह है कि इस प्रकार के धार्मिक रीति-रिवाजों (शास्त्रीय रिवाजों) में भी कारण विशेष के उपस्थित होने पर परिवर्तन होता है, तब फिर जिन रीति-रिवाजों को संघ ने चालू किया है उन रीतिरिवाजों (नियमों) में श्री संघ काल को ध्यान में रखकर परिवर्तन कर सकता है, उसमें कोई आशंका करने की बात नहीं है।

प्रस्तुत प्रकरण में मुझे जो कुछ भी कहना है वह बोलियों के रीति-रिवाज के संबंध में ही। आरती, मंगल-दीपक, पूजा, पारणा और इसी प्रकार की अन्य कई क्रियाएँ हैं जिन क्रियाओं में मुख्यतया

बोलियाँ बोली जाती हैं। इन बोलियों के बोलने का मुख्य हेतु क्या है अथवा क्या होना चाहिए ? यह मैं अपनी प्रथम पत्रिका में बता चुका हूँ। भगवान की पूजा करना, आरती उतारना आदि कर्तव्य अन्तःकरण की शुद्धि के लिए है। हृदय में शुभ भावों का उद्भव हो, इसलिए है। ये सब भक्ति के कार्य हैं और भक्ति-कार्यों की बोली ही नहीं हो सकती, यह बात सरलता से सभी समझ सकते हैं यदि इस प्रकार ज्यादा द्रव्य प्रदान करने वाले को ही पूजा या आरती के फल की प्राप्ति होती हो तब तो बिचारे गरीब-निर्धनों का तो निस्तार ही नहीं होगा तथा पूजा, आरती जो कुछ भी करेंगे, वह सब व्यर्थ ही जायेगा, परन्तु ऐसा नहीं है। भगवद्भक्ति का फल तो व्यक्ति के अन्तःकरण के अध्यवसाय पर निर्भर है। केवल अपनी महत्त्वाकांक्षा दिखाने के लिए अथवा दूसरे के प्रति ईर्ष्याविश ५ हजार मण घी बोलकर भी यदि कोई पूजा करता है और पूजा करते समय भी उसका हृदय कषायों से ओत-प्रोत है तो उसे उसकी पूजा का फल क्या मिलेगा ? जबकि एक सामान्य स्थिति का व्यक्ति शुभ भावना से कषाय, रहित होकर भले ही पाव सेर घी की बोली बोले बिना ही प्रभु की पूजा करे तो भी उसे निश्चित ही पूजा के फल की प्राप्ति होगी अर्थात् उसके अन्तःकरण की शुद्धि अवश्यमेव होगी।

वास्तविक स्थिति जब ऐसी है तब बोलियों के रीति-रिवाजों की तरफ क्यों देखा जाता है ? यह एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है । इसका उत्तर मैंने अपने प्रथम लेख में समुचित रूप से दे दिया है । भगवद्भक्ति के प्रसंग पर बलवान् निर्बल पर, धनी निर्धन पर और विद्वान् मूर्ख पर आक्रमण न करे तथा सुख समाधि पूर्वक प्रत्येक ध्यक्त समभावपूर्वक भक्ति कर सके यही बोली बोलने का मुख्य कारण है । कई बार देखा भी जाता है कि मंदिरों एवं तीर्थ स्थानों में पूजा के समय में पूजा करने वालों में रगड़े-झगड़े होते हैं और जो स्थान कर्मक्षयार्थ पवित्र माना जाता है उसी स्थान पर वे लोग कषायों से व्याप्त होकर अपनी आत्मा को मलिन करते हैं । बोली का रिवाज होने पर भी “एकदम ( अचानक ) आदेश क्यों दे दिया ?” इत्यादि कारणों को खड़े कर क्लेशयुक्त वातावरण बना देते हैं तो फिर बोली बोलने का रिवाज नहीं रहेगा, तब तो न मालुम ऐसे भक्ति के रहस्य को नहीं समझने वाले लोग कितना तूफान करेंगे ? यह क्या सम्भव नहीं है ?

बस, इन्हीं कारणों को लेकर बोलियों के रीति-रिवाज कुछ ही वर्षों से चले हैं । वस्तुतः ‘पूजा-आरती आदि की बोलियाँ होनी ही चाहिए, ऐसी कोई प्रभु की आज्ञा नहीं है न उपदेश है’ यह बात परम प्रभावक,

महान् गीतार्थ, अकबर प्रतिबोधक, जगद्गुरु श्रीहीर-  
विजय सूरि महाराज के वचनों से भी सिद्ध होता है ।

‘हीर प्रश्नोत्तर के तीसरे प्रकाश के ११ वे प्रश्न में  
जगमाल ऋषि श्री हीरविजय सूरि महाराज को पूछते  
हैं ।-

“तैलादिमाननेनादेशप्रदानं शुद्ध्यति न वा ?”  
अर्थात्- ‘तेल आदि की बोली से आदेश देना शुद्ध है  
या नहीं ?’

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आ० भ० श्री हीर वि-  
जय सूरि महाराज कहते हैं कि-

‘तैलादिमाननेन प्रतिक्रमणाद्यादेशप्रदानं न सुवि-  
हिताचरितं, परं क्वापि-क्वापि तदभावे जिनभवनादि  
निर्वाहासंभवेन निवारयितुमशक्यमिति ”

अर्थात् ‘तेल आदि की बोलियों द्वारा प्रतिक्रमणादि  
में आदेश देना सुविहिताचरित नहीं है परन्तु किसी-  
किसी स्थान पर इन बोलियों के बिना जिनभवनादि  
का निर्वाह असंभव होने के कारण इस रिवाज को  
रोकना अशक्य है ।

आजकल जैसे प्रत्येक बोली में घी बोला जाता है  
वैसे उस समय में ( हीरविजय सूरि महाराज के समय

में ) बोलियाँ में मुख्यतया तेल बोला जाता था इसी लिए उपर्युक्त पाठ में 'तैलादि' कहा गया है ।

परम पूज्य हीरविजयसूरि महाराज उपर्युक्त पाठ में स्पष्टता पूर्वक बता रहे हैं कि 'बोली बोलना सुविहित नहीं है जब एक महान् आचार्य भी बोली के रिवाज को शास्त्रीय नहीं मानते हैं, तब फिर बोली के रिवाज को ईश्वर वाक्यवत् समझने वाले कितनी भयंकर भूल करते हैं ? यह बारम्बार कहने कि आवश्यकता नहीं है ।

कदाचित् कोई ऐसा कहे कि 'भले ही बोली का रिवाज क्लेश निवारणार्थ रखा हो, परन्तु बोली का द्रव्य 'देवद्रव्य' में ही ले जाने का नियम क्यों बनाया ?' इसका उत्तर भी हीर विजय सूरि महाराज के उपर्युक्त पाठ से स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है । 'किसी - किसी स्थान पर इन बोलियों के बिना जिनभवनादि का निर्वाह असंभव होने के कारण, उस रिवाज को बंद करना अशक्य है ।' इन उपर्युक्त शब्दों से ही ज्ञात हो जाता है कि उस समय में प्रायः जिन मंदिरादि की रक्षा हेतु पर्याप्त साधनों का अभाव होने के कारण कितनी ही बोलियाँ के द्रव्य को देवद्रव्यादि में ले जाने का रिवाज चल गया था और यही कारण मैंने अपने प्रथम लेख में भी बताया है ।

यह तो सत्य ही है कि जिस समय जिसकी आवश्यकता होती है उसकी पूर्ति हेतु ही उस तरफ लोगों का ध्यान जाता है और जाना भी चाहिए। श्रीहीर विजय सूरि महाराज के उपर्युक्त प्रबल प्रमाण के पश्चात् बोली के रिवाज संबंधी अन्य विशेष प्रमाणों की आवश्यकता भी नहीं रहती है।

श्री हीर विजय सूरि महाराज जैसे परम प्रभावक एवं सर्वमान्य गीतार्थ आचार्य श्री के वचन से यह सिद्ध हो चुका है कि—

“बोली बोलना, यह सुविहित और आचरित नहीं है तथा कितनी ही बोलियाँ के द्रव्य को जिनभवनादि के निर्वाह के अन्य साधन नहीं होने के कारण देवद्रव्यादि में ले जाने का निर्णय किया गया।”

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि जिन बोलियाँ का द्रव्य अभी तक देवद्रव्य में ले जाया जाता रहा है, उन बोलियाँ के द्रव्य को अब साधारण खाते में ले जाने का संघ निर्णय कर सकता है या नहीं !

यह बात तो मैं प्रथम ही कह चुका हूँ कि भिन्न-भिन्न कारणों से चल पड़े रिति-रिवाजों में समय-समय पर परिवर्तन होता ही रहता है। इसी प्रकार इस रिवाज में भी परिवर्तन कर दिया जाये अर्थात् बोली

का द्रव्य देवद्रव्य में अबतक ले जाया जाता रहा उसे अब श्री संघ साधारण खाते में ले जाने का निर्णय करना चाहे तो खुशी से कर सकता है। पहले भी देवद्रव्य की आय के साधनों में परिवर्तन होता ही रहा है देखिए—

श्राद्धविधि के पंचमप्रकाश में श्रावकों को करने योग्य वार्षिक कृत्यों का विवेचन किया गया है। उनमें से पंचम (पाँचवा) कृत्य 'जिणधणवुड्ढी' अर्थात् 'जिन-द्रव्य की वृद्धि' भी बताया गया है। इस जिनद्रव्य की वृद्धि किस प्रकार से करना है इस संबंध में विवेचन करते हुए टीकाकार स्वयं कहते हैं—

“जिनधनस्य देवद्रव्यस्य वृद्धिर्मालोद्घट्टनेन्द्रमालादिपरिधानपरिधापनिकाधौतिकादिमोचनद्रव्योत्सर्पणपूर्वकारात्रिकविधानादिना” । (देखिए पृष्ठ १६१)

अर्थात् श्रावकों को प्रतिवर्ष देवद्रव्य की वृद्धि हेतु निम्नलिखित कार्य करने चाहिए—

माला पहिनना, इन्द्रमालादि पहिनना, पहेरामणी और धौतिये ( कपड़े ) वगैरह रखना तथा द्रव्य निक्षेप पूर्वक ( रखकर ) आरती उतारना ।

कोई भी वाचक देख सकता है कि उपर्युक्त पाठ में चढ़ावे या बोली का नामोनिशान नहीं है तथा ये कृत्य भी ऐसे हैं कि उनमें बोली या चढ़ावा की आवश्यकता

भी महसूस नहीं होती है। इतना होने पर भी कई महानु-  
भाव उपयुक्त पाठ को आगे कर उसके अर्थ में 'चढ़ावा'  
'बोली' वगैरह शब्दों की वृद्धि कर स्वपक्ष को मजबूत  
सच्चा करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु ध्यान रखना  
चाहिए कि बोली के साथ में उपयुक्त पाठ का किसी  
प्रकार संबंध नहीं है क्योंकि उपयुक्त पाठ में जिन कृत्यों  
का उल्लेख है वे वार्षिक कृत्य हैं न कि दैनिक कृत्य।  
श्राद्धविधि के पंचम प्रकाश का यह पाठ है। उस प्रकाश  
के प्रारम्भ में ही लिखा हुआ है कि—

“उक्तं चातुर्मासिकं कृत्यम् । अथ वर्षकृत्यमुत्तरार्धनोत्तर-  
गाथया चैकादशद्वारैराह”

अर्थात्-चातुर्मासिक कृत्य कहें अब गाथा के उत्तरार्ध से  
और तदनंतर की गाथा (डेढ गाथा) में ग्यारह द्वारों  
द्वारा वार्षिक कृत्य कहे जाते हैं।

उपयुक्त पाठ वैसे भी बोली या चढ़ावे का नाम  
भी नहीं है अतः दोनों तरह से यह पाठ बोली के प्रसंग  
में उपयोगी नहीं है। मैं उपयुक्त पाठ में जो कुछ  
बताना चाहता हूं वह यह है कि-उपयुक्त कार्यों का  
द्रव्य-वस्तुएँ पहले देवद्रव्य में ले जाते थे, परन्तु आज-  
कल उसमें बहुत परिवर्तन हो गया है। यह प्रत्यक्ष दिखाई  
देता है। अरे! उनमें से कई रिवाजों का तो नामो-  
निशान भी नहीं रहा।



जो इन्द्रमाला परिधान का ऊपर कथन किया गया है उसको अभी तो संघपति प्रायः 'नकरा' देकर ही पहिन लेते हैं। नकरा भी वैसे का वैसे तो रहा नहीं, उसमें भी समयानुसार परिवर्तन होता ही रहा है। तब आप लोग ही बताएँ कि पहले इस इन्द्रमाला परिधान की जो आय होती थी, उसमें परिवर्तन हुआ या नहीं ?

परिधापनिका- पहेरामणी- पहले गृहस्थ लोग पहेरामणीनिमित्त वस्त्र अथवा रोकड़ देवद्रव्य में देते रहते थे, परन्तु आजकल वह रिवाज भी नहीं रहा। अब बताइएँ कि देवद्रव्य की आय में परिवर्तन हुआ या नहीं ?

आरती में द्रव्य रखकर देवद्रव्य की वृद्धि हेतु कहा है फिर भी आजकल कई स्थानों पर या तो याचकों को दे दिया जाता है या फिर पूजारी ले जाता है। इसमें भी परिवर्तन हुआ या नहीं ?

देवद्रव्य की वृद्धि का जो पाठ देकर कोई-कोई स्वपक्ष स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु उसी पाठ में बताये देवद्रव्य की वृद्धि के कारणों में उपर्युक्त प्रमाणों से बहुत बड़ा परिवर्तन बताया गया है। तो क्या ऐसे परिवर्तन कर्ता का भव-भ्रमण बढ़ जायेगा, वे लोग ऐसा मानते हैं क्या ?

और भी देखिएँ-

पहले के समय में गुरुन्युञ्छण के द्रव्य को याचक लोग ले जाते थे। (अभी भी कई स्थानों पर याचक लोग ले जाते हैं।) परन्तु बाद में वह द्रव्य साधारण खाते में ले जाया जाता होगा क्योंकि 'श्राद्धविधि' के निम्न पाठ से स्पष्ट हो जाता है। 'श्राद्धविधि' के पृष्ठ ७७ में इस प्रकार का पाठ है।

“साम्प्रतिकव्यवहारेण तु यद् गुरुन्युञ्छनादीना साधारणं कृतं स्यात्तस्य श्रावक-श्राविकाणामर्पणे युक्तिरेव न दृश्यते । शालादिकार्ये तु तद् व्यापार्यते श्राद्धैः ।”

अर्थात्- साम्प्रतिक व्यवहार द्वारा तो जो गुरुन्युञ्छनादि के द्रव्य को साधारण खाते में ले जाया गया हो, उस द्रव्य को श्रावक - श्राविका को देना युक्तियुक्त नहीं है। शालादि के कार्य में श्रावक उस द्रव्य का उपयोग कर सकते हैं। इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि गुरुन्युञ्छनादि के द्रव्य को साधारण खाते में भी ले जाने का रिवाज था तब आप ही कहें कि गुरुन्युञ्छनादि के द्रव्य में भी परिवर्तन हुआ या नहीं? इस प्रकार गुरुन्युञ्छनादि के द्रव्य को साधारण खाते में ले जाने का कारण यही ज्ञात होता है

कि लोग जब गुरु भक्ति निमित्त गुरुन्युञ्छनार्थ अधिकाधिक द्रव्य देने लगे तब आखिर यह निर्णय करना पड़ा कि यह द्रव्य साधारण खाते में ले जाया जाएँ ; इसी प्रकार सिद्धाचलजी तीर्थ में भी कई परिवर्तन हो गये यह बात सर्वविदित और सुप्रसिद्ध ही है । जिस द्रव्य को भाट लेकर जाते, उसमें से भी बहुत सा द्रव्य 'देवद्रव्य' में ले जाने का निश्चय किया गया । अन्त में पूजा के नामों में भी परिवर्तन कर दिया ।

इस तरह समय-समय पर प्राचीन परम्परा (रिवाजों) में परिवर्तन के एक नहीं परन्तु सैकड़ों उल्लेख (उदाहरण) मिल सकते हैं ।

पाटण में पहले पूजन सामग्री में प्लेट, दुपट्टे और साड़ियाँ वगैरह बहुमूल्य वस्तुएँ (स्वस्वशक्त्यनुसार) रखते थे और वे सब वस्तुएँ मंदिर खाते में ले जाई जाती थी, परन्तु बाद में इस परम्परा को बदलकर श्रावकोपयोगी धोती वगैरह रखने की परम्परा प्रारंभ हुई तथा पूजा की रोकड़ रकम जो मन्दिर खाते में ले जाई जाती थी वह साधारण खाते में ले लाई जाने लगी और उसका उपयोग केशर-चन्दन के लिए होने लगा तथा उस केशर चंदन का उपयोग श्रावक भी कर सकते हैं, ऐसा निर्णय लिया गया । अतः आप ही

बताईएगा कि देवद्रव्य की वृद्धि के इस नियम में परिवर्तन हुआ अथवा नहीं ?

उसी पाटण का दूसरा दृष्टान्त-तपागच्छ के उपाश्रय में स्वप्नों की बोली के द्रव्य का भाग कर कुछ द्रव्य देवद्रव्य में ले जाते परन्तु बाद में श्री संघ ने स्वप्नों की बोलीके सम्पूर्ण द्रव्य का उपाश्रय के मरम्मत कार्य में व्यय करने का निर्णय किया और वास्तव में उस आय से उपाश्रय बनवाया भी । कहिएगा, श्री संघ ने पहले से ही निर्णय करके उस रकम का निर्णयानुसार व्यय किया तो कौन उसे दोषित कह सकता है ?

और भी देखिए—उसी पाटण में पहले ऐसी परंपरा थी कि किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर उसकी आय में से कुछ रकम प्रत्येक मन्दिर में भेटस्वरूप भेज दी जाती थी, परन्तु बाद में श्री संघ ने निर्णय कर साधारण खाते में ले जाना प्रारंभ कर दिया । वेरावल में एक मुनिश्री के उपदेश से बोली के भाव में चौक्कस परिवर्तन कर अमुक ( कुछ ) द्रव्य साधारण खाते में ले जाने का निर्णय किया गया ।

बम्बई कोट के मन्दिर में घी का भाव चार रुपये है जिसमें से कुछ भाग साधारण खाते में ले जाया जाता है ।

सुना जाता है नासिक के सेठ दीपचंद निहालचंद के मन्दिर में बोली के सम्पूर्ण द्रव्य को साधारण खाते में ले जाया जाता है ।

इस प्रकार अनेक स्थानों पर प्रचलित-परम्परा में परिवर्तन हुए हैं । तब क्या इस प्रकार के परिवर्तन करने वाले श्रीसंघ और इस प्रकार के उपदेशक मुनि भगवन्त भवभ्रमण ही करते रहेंगे ? यदि प्रचलित रीति-रिवाजों में परिवर्तन नहीं ही हो सकता हो तो उपयुक्त रिवाजों में परिवर्तन क्यों ? बम्बई के मुख्य प्रतिष्ठित गृहस्थों से यह ज्ञात हुआ कि जो महात्मा श्री प्रचलित परम्परा परिवर्तन में भव-भ्रमण का भय बताते हैं वे ही महात्मा श्री स्वयं जब बम्बई में थे, तब उन्होंने स्वयं बोली के रिवाज में चौकस परिवर्तन कर अमुक रकम साधारण खाते में ले जाने का उपदेश दिया था । उस समय एक गृहस्थ द्वारा कहा भी गया था कि, “साहब ! इस प्रकार का परिवर्तन करने में किसी प्रकार का दोष तो नहीं लगेगा ?” तब उन्होंने कहा था कि “मैं कह रहा हूँ न, आपको इस संबंध में विचार विल्कुल ही नहीं करना चाहिए ।”

स्वयं वे जिस विषय का प्रतिपादन करते थे उसी विषय का दूसरे मुनि भी प्रतिपादन करते थे । अरे !

तब उक्त महात्मा उनके वचनों को शास्त्र के विरुद्ध बतलाते और भवभ्रमण का कारण कहकर लोगों को भ्रमित एवं भयभीत करते । इसका अर्थ क्या हो सकता है ? वाचकवृन्द स्वयं भी समझ सकता है कि यह तानाशाही के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । अस्तु ।

महानुभावों ! उपर्युक्त अनेक दृष्टान्तों से यह तो ज्ञात हो ही गया होगा कि समयानुसार किसी भी रिवाज (परंपरा) में परिवर्तन करने का श्री संघ को अधिकार है और परिवर्तन भी हुए हैं अर्थात् श्री संघ ने किये हैं । यदि इस प्रकार से परिवर्तन नहीं हुए होते या नहीं किये गये होते तो अभी के साधु-सन्तों के आचार - विचारों में और गृहस्थों की प्रवृत्ति में तथा प्राचीन परंपरा में आकाश पाताल का जो अंतर प्रतीत होता है वह कैसे संभव होता ?

( अनुवादक की कलम से— आ० भ० श्री लक्ष्मी-सूरिजी म० सा० कृत अष्टाह्निका व्याख्यान में उल्लेख मिलता है कि आ० भ० श्री हीरविजय सूरिजी म० सा० के शिष्य उपा० श्री शान्तिचन्द्र जी म० सा० को उनके शिष्य बाँसों पर बैठकर स्वस्कंधों पर अकबर बादशाह के पास ले गये थे कटकदेश को विजित करने के प्रसंग में । इससे सभी समझ सकते हैं कि पहले गुरुओं आदि के पैदल विहार करने में असमर्थ

हो जाने पर शिष्य ही स्वस्कंधों पर उठाकर ले जाते थे, परन्तु बाद में डोली में बैठने लगे जिसे मजदूर लोग उठाने लगे और आज जो भवभ्रमण का (रिवाजों के परिवर्तन में) डर बताते हैं उनकी ही परंपरा के उनके ही आज्ञानुवर्ती साधु ही नहीं परन्तु उच्च कोटि के विद्वान आ० भ० भी हाथ ठेले गाड़ी में बैठकर जाते हैं जो कि कुछ वर्षों पूर्व डोली में जाते थे। इनसे ही यह पृच्छा जाय कि अपने हट्टे-कट्टे (शक्ति-सम्पन्न) शिष्यों के होने पर भी डोली में या ठेले गाड़ी में क्यों बैठते हैं? और यदि बैठते हैं तो अपने शिष्यों के द्वारा डोली क्यों नहीं उठवाई जाती है? मजदूरों के द्वारा ही क्यों उठवाई जाती है?

यदि समयानुसार परिपर्तन नहीं हुआ होता तो उपर्युक्त बातें देखनेको नहीं मिलतीं। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावानुसार प्रवर्तने की प्रभु ने आज्ञा की है, उसका फिर हेतु ही क्या है? समयानुसार इस प्रकार के परिवर्तन में जो भवभ्रमण का भय बतलाते हैं, वे द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव को कहाँ चरितार्थ करेंगे? यह कोई बता सकेगा क्या?

(अनुवादक की कलम से—दो तिथी, एक तिथी का झगड़ा वर्षों तक चला और कई कट्टर-पंथी एक दूसरे को साधु मानने के लिए भी तैयार नहीं थे आज उन्हीं

की जीवितावस्था में उनके ही शिष्यों ने झगड़े - रगड़े को तिलाञ्जली देकर संवत्सरी एक दिन मनाने का निर्णय किया। हालांकि वे सभी प्रशंसापात्र तो अवश्य है परन्तु विचारणीय प्रश्न तो यह है कि जिन्होंने इतना बड़ा भारी परिवर्तन कर दिया है क्या उन सभी 'आचार्यों मुनिराजों और श्री संवत्सरी के अग्रेसर श्रावकों का भवन्नमण बढ़ गया ? )

ध्यान में रखना चाहिए कि - मनुष्य के जैसे परिणाम होते हैं उसी के अनुसार पुण्य-पाप का बंध होता है। किसी भी कार्य का परिणाम कैसा है? वही मुख्य-तया ध्यान में रखने का है। यदि परिणामों पर ध्यान नहीं रखा जाय तो कदम-कदम पर पापकर्मों का बंधन ही होता रहेगा तथा उनसे छुटकारा कदापि नहीं होगा श्राद्धविधि और धर्मसंग्रहादि अनेक ग्रन्थों में इसी बात की पुष्टि की गई है— धर्मसंग्रह के पृष्ठ १६७ में लिखा हुआ है कि—'स्वगृहदीपश्च देवदर्शनार्थमेव देवाग्रे आनी-  
'तोऽपि देवसत्को न स्यात् । पूजार्थमेव देवाग्रे मोचने तु देवसत्क एव, परिणामस्यैव प्रामाण्यात् ।'

अर्थात्—अपने घरके दीपक को देवदर्शन के लिए ही प्रभु के आगे लाया गया हो फिर भी वह दीपक देवद्रव्यरूप अर्थात् देवसंबंधी नहीं गिना (माना) जाता



है, परन्तु पूजार्थ प्रभु के आगे रखा जाने वाला दीपक ही देवद्रव्य के रूप में माना जाता है क्योंकि परिणाम को ही प्रमाण माना जाता है।

मतलब कि इधर उसके ऐसे परिणाम ही नहीं हैं कि मैं इस दीपक को देवपूजार्थ उपयोग में लूँ। सिर्फ, प्रभु दर्शनार्थ ही लाया गया है; परन्तु हाँ, जो दीपक पूजार्थ रखा जायेगा, वह जरूर देवसंबंधी गिना जायेगा। इसी प्रकार का उल्लेख श्राद्धविधि के ७६पृष्ठ पर मिलता है—“स्वगृहार्थकृतदीपस्य देवदर्शनार्थमेव देवाग्ने आनयनेऽपि देवसत्कत्वं न स्यात्, पूजार्थमेव देवाग्ने मोचने तु देवसत्कत्वं।”

अर्थात्—अपने घर के एलि किया हुआ दीपक, यदि देवदर्शनार्थ ही प्रभु के आगे लाया जाय, तो भी वह देवद्रव्यरूप में नहीं माना जाता है, सिर्फ पूजार्थ प्रभु के आगे रखा हुआ दीपक ही देवद्रव्यरूप माना जाता है।

आगे श्राद्धविधि के उसी पृष्ठ पर कहा गया है कि—  
“स्वसत्कं तु साबाणजवनिकादि कियद्दिनानि देवगृहादौ विलोक्यमानत्वेन व्यापारणाय मुक्तमपि देवादि-सत्कं न स्यात्, अभिप्रायस्यैव प्रमाणीकरणत् । अन्यथा स्वभाजनस्थनैवेद्यढोकने भाजनानामपि देवसत्कीभवन-

प्रसङ्गः ।”

अर्थात्-अपने तम्बू (सामियाने) एवं कनात ( पर्दे )  
वगैरह को कितने ही दिनों तक जिनमंदिरादि में दर्शनार्थ  
तरीके रखा गया होता है, परन्तु वे देवद्रव्यरूप में नहीं  
गिने जाते हैं क्योंकि अभिप्राय को ही प्रमाण  
माना गया है । (अर्थात् देवसंबंधी गिनकर वहाँ उसका  
देनेका अभिप्राय ही नहीं है) यदि ऐसा नहींहो तो अपने  
जिस बर्तन में नैवेद्य प्रमु-समक्ष चढ़ाया जाता हैं उस  
बर्तन को भी देवद्रव्य ही मानना पडेगा अर्थात् ऐसा  
प्रसंग खड़ा हो जायेगा । परन्तु चूँकि यहाँ नैवेद्य ही  
चढ़ाने का स्पष्ट अभिप्राय है अतः बर्तन का प्रश्न ही  
नहीं है ।

ऐसे अनेक दृष्टान्तों से सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य  
के जैसे परिणाम होते हैं वैसे ही पुण्य-पाप का बंध  
होता है । इसी कारण निःसंकोच किसीभी रिवाजमें श्री-  
संघ परिवर्तन कर सकता है और समय-समय पर  
करता भी रहा है । ऐसे अनेक रिवाजों में परिवर्तन  
होने के दृष्टान्त दिये गये हैं । अभी भी कुछ गहराई में  
उतरकर देखने से ज्ञात होगा कि अपने चालू रिवाज  
( जो चलरहे हैं ) भी अेक समान नहीं दिखाई देते हैं  
देखिए - उपधान का नकरा, किसी स्थान पर कुछ  
लिया जाता है तो किसी स्थान पर कुछ । अरे ! इतना

ही नहीं परन्तु एक ही स्थान में और एक ही समय किसी के पास से पूरा लिया जाता है तो किसी के पास से आधा ही, तो किसी के पास में बिल्कुल भी नहीं लिया जाता है।

अर्थात् उपधान करने वाले की शक्ति को देखकर नकरा लिया जाता है, तब फिर क्या कम नकरे देने वाले और लेने वाले को भवभ्रमण करने वाला समझना चाहिए ? भगवान् की आरती किसी स्थान पर पाँच व्यक्तियों द्वारा उतारी जाती है तो कहीं एक व्यक्ति द्वारा ही। अर्थात् - किसी स्थान पर पाँच पाँच सात - सात आरती का घी बोला जाता है तो कहीं सिर्फ अकेले ही आरती का घी बोला जाता है। तो क्या कम आरतियों के घी को बोलने का रिवाज रखने वाले ट्रस्टियों को भवभ्रमण करने वाला समझना चाहिए। सभी समझ सकते हैं कि जहाँ की जैसी अनुकूलता और जहाँ की जैसी शक्ति हो उसी के अनुसार रिवाज रखे जाते हैं। यह बात ही स्पष्टता का अवलोकन करा देती है कि—“बोली बोलने के रिवाज ही अपनी कल्पना के रिवाज है अर्थात् मनकल्पित है इसी कारण इन रिवाजों में उचित प्रकार से समयानुसार परिवर्तन करने में किञ्चित् (अंश मात्र) भी शास्त्रीय दोष दिखाई नहीं देता है।”

संक्षेप में कहे तो-जिस समय में मंदिरों वगैरह के रक्षा के साधन पर्याप्त नहीं थे, उस समय बोलियों के द्रव्य को देवद्रव्य में ले जाने का श्री संघ ने जो निर्णय किया था वह उचित ही था, परन्तु अब बोलियों के द्रव्य को साधारण खाते में ले जाने का गाँव-गाँव और नगर-नगर के श्री संघों को निर्णय कर लेना चाहिए। चूँकि एक ही क्षेत्र में जरूरत से ज्यादा पानी डालते जाना और अन्यान्य क्षेत्रों को बिलकुल ही शुष्क ( सुखे ) रखना, इस बात (कार्य) को कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति अच्छा नहीं मानेगा। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि जो इस बात को समझने पर भी साधारण खाते में नहीं लेजाने का कदाग्रह रखते हैं यह उनका देवद्रव्य पर मिथ्या मोह ही है अथवा साधारण की अपेक्षा देवद्रव्य की अधिक उत्कृष्टता समझने का ही परिणाम ज्ञात होता है। परन्तु वस्तुतः ऐसा कुछ भी नहीं है। शास्त्रकारों ने तो देवद्रव्य और साधारण द्रव्य की महत्ता एक समान ही बतलाई है। ऐसा नहीं कि देवद्रव्य के भक्षण से तो, पाप लगता है और साधारण द्रव्य के भक्षण से पाप न लगता हो। देखिए संबोध सप्तति के पृष्ठ ५२ पर शास्त्रकार स्वयमेव बता रहे हैं—“देवद्रव्यवत्-साधारणद्रव्यमपि वर्धनीयमेव, देवद्रव्यसाधारणद्रव्य-योर्हि वर्धनादौ तुल्यत्वश्रुतेः।”

अर्थात्-देवद्रव्य की तरह साधारण द्रव्य में भी वृद्धि करनी चाहिए क्योंकि देवद्रव्य और साधारणद्रव्य में वृद्धि की दृष्टि शास्त्र में तुल्यत्वश्रुति है अर्थात् दोनों की वृद्धि में समान दृष्टि रखनी चाहिए, ऐसा बताया गया है और आगे उसी ग्रन्थ में ग्रन्थकार कहते हैं-  
“देवस्सं नाणदव्वं च साधारणधणं. तथा । सावएहिं तिहा काउं नेयव्वं बुड्ढिमायरा ॥१॥ ” अर्थात् - देवद्रव्य, ज्ञानद्रव्य और साधारण द्रव्य, इन तीनों की ही श्रावकों को आदर-पूर्वक वृद्धि करनी चाहिए ।

इस से स्पष्टता हो जाती है कि साधारण द्रव्य की भी देवद्रव्य की तरह ही वृद्धि करनी चाहिए ।

पुनः कहते हैं -

“चेइयदव्वं साहारणं च जो दुहइ मोहियमईओ । धम्मं च सो न याणइ अहवा बद्धाउओ नरए ॥१॥”

अर्थात् चैत्यद्रव्य(देवद्रव्य)और साधारणद्रव्य- इन दोनों का मोहितमति वाला व्यक्ति ही नाश करता है (अथवा भोग करता है) वह धर्म को नहीं जानता है अथवा वह नरकायुष्य का बंध करता है ।

कितना सुंदर पाठ है ! देवद्रव्य की तरह साधारण द्रव्य की उपेक्षा करने वाले - भक्षण करने वाले, नष्ट करने वाले को क्या कम दण्ड बताया गया है ? साधा-

रण द्रव्य के लिए इतना अधिक कहने पर भी यह बात समझ में नहीं आती है कि देवद्रव्य के ऊपर ही इतनी अधिक मुग्धता क्यों? आर साधारण द्रव्य को तरफ इतनी उपेक्षा क्यों? अरे। कई धर्मगुरु भी ऐसा ही समझकर उपदेश देते हैं कि देवद्रव्य की वृद्धि से ही मोक्ष मिलेगा। साधारणद्रव्य तो कोई चीज ही नहीं है। परन्तु मुझे समझाना - कहना पड़ेगा कि धर्मगुरुओं को चाहिए कि उपदेश देते समय लाभा लाभ का सर्वप्रथम विचार करें। कौन सा रिवाज किस कारण से प्रारंभ हुआ? अब इसमें परिवर्तन करने की आवश्यकता है या नहीं? इत्यादि बातों का सर्वप्रथम विचार कर देना चाहिए। पोछे से चला आ रहा है अतः उसमें परिवर्तन हो ही नहीं सकता है ऐसा दुराग्रह रखना, समयज्ञ नहीं होने (समय को नहीं जानने) का ही परिणाम है। यह तो ऐसा हुआ कि एक बार सभी श्रावक प्रतिक्रमण करने बैठे, चारों तरफ अंधकार व्याप्त था। चालीस लोग्स के काउस्सग के समय अेक व्यक्ति के हाथ का स्पर्श दूसरे व्यक्ति को हो गया, दूसरे ने समझा कि प्रतिक्रमण की विधि में ऐसा ही होता होगा, अतः उसने भी तीसरे व्यक्ति को हाथ लगाया। फिर तो तीसरे ने चौथे को, चौथे ने पाँचवें को, इस प्रकार २०-२५ नम्बर तक कुहनी मारते गये।

सभी के मन में यही विचार हुआ कि प्रतिक्रमण की विधि में यह भी क्रिया है। आखिर में एक व्यक्ति के मन में हुआ कि अग्रिम व्यक्ति ने मुझे कुहनी क्यों मारी है ? ऐसा विचार आते ही उसने कुहनी मारने वाले से पूछा कि, "अरे भाई ! कुहनी क्यों मार रहा है ?" उसने जबाब दिया कि, "बैठ रे ! पीछे से चली आती है।"

इसका अर्थ ही क्या है ? पीछे से चला आ रहा है अतः उसको चलने ही देना क्या ? अरे ! उसका मूल कारण जानना ही नहीं क्या ! किस कारण से चला आ रहा है ? ऐसा नहीं और ऐसा ही क्यों किया गया ? इत्यादि बातों पर जब तक विचार नहीं किया जायेगा, तब तक किसी भी क्रिया का - किसी भी रिवाज का रहस्य समझ में ही कहाँ से आयेगा और कैसे आयेगा ? बल्कि शास्त्रकार तो स्पष्टता पूर्वक बता रहे हैं कि ; गृहस्थों को धर्ममार्ग में यदि द्रव्य का व्यय करना हो तो मुख्यतया साधारण खाते में ही करना चाहिए।

देखिए - श्राद्धविधि के पृष्ठ ८० पर कहा गया

है कि—

“धर्मव्ययश्च मुख्यवृत्त्या साधारण एव क्रियते, यथा-  
यथा विशेषविलोक्यमानं धर्मस्थाने तदुपयोगः स्यात् ।

सप्तक्षेत्र्यां हि यत्सीदत् क्षेत्रं स्यात्दुपष्टम्भे भूयान्  
लाभो दृश्यते । “

अर्थात्-मुख्यतया धर्म हेतु व्यय साधारण खाते में ही करना चाहिए क्योंकि जैसे-जैसे विशेष देखने में आता है वैसे-वैसे धर्मस्थानों में उसका उपयोग हो सकता है । सातों क्षेत्रों में जो कमजोर क्षेत्र होता है उसको पुष्ट करने में अत्यधिक लाभ है ।

इसी प्रकार का उल्लेख धर्मसंग्रह ग्रन्थ के पृष्ठ १६८ में आता है -

“मुख्यवृत्त्या धर्मव्ययः साधारण एव त्रियते, तस्या-  
शेषधर्मकार्ये उपभोगागमनात् । “

अर्थात्-मुख्यतया धर्म के लिए व्यय साधारण खाते में ही करना चाहिए, क्योंकि उसमें से सभी धर्मकार्यों में उपभोग हो सकता है ।

इतना ही पाठ नहीं है, परन्तु अनेक धर्मग्रन्थों में साधारण खाते को पुष्ट बनाने के असंख्य उल्लेख ( पाठ ) होने पर भी एवं विद्वानों की श्रेणि में गिने जाने वाले साधु उन पाठों को निरन्तर पढ़ने पर भी श्रावकों को सत्य बात बताने में पूर्वाग्रह नहीं छोड़ते हैं । न मालुम इसका क्या कारण है ? यही बात समझ में नहीं आती है । गाँव-गाँव में साधारण खाते में कमी



और देवद्रव्य का दुरुपयोग खुलकर होने पर भी देवद्रव्य की वृद्धि का ही उपदेश देना और जिन बोलियों के द्रव्य को साधारण खाते में ले जाने में किसी प्रकार का शास्त्रीय दोष प्रतीत नहीं होने पर भी, भवभ्रमण का भय बताना, यह जान बूझकर ही लोगो को उल्टे मार्ग पर ले जाने ( चढ़ाने ) के बराबर नहीं है क्या ?

कदाचित् किसी के मन में यह हो कि साधारण द्रव्यमें यदि वृद्धि कर दी जायेगी तो लोग लड्डू बनाकर खा जायेंगे । यह तो उनका मिथ्या भ्रम ही है । साधारण द्रव्य का भी देवद्रव्य के जितना ही महत्व है, इस बात को प्रथम ही देख चुके हैं - समझ चुके हैं । अर्थात् जितना पाप देवद्रव्य के भक्षण से लगता है उतना ही पाप साधारणद्रव्य के भक्षण से भी लगता है । साधारण द्रव्य का यह अर्थ नहीं है कि कोई उसका भक्षण कर ले फिर भी पाप नहीं लगे । साधारण द्रव्य का उपयोग सप्तक्षेत्रों में करना कहा है उसमें श्रावक-श्राविका भी आजाते हैं परन्तु वे श्रावक-श्राविका कैसे ? जो दुःखी हो, दयनीय अवस्था में हो तथा जिनके निर्वाह के लिए अन्य कोई साधन ही न हो, परन्तु साधनसम्पन्न गृहस्थ उसका उपयोग नहीं कर सकते हैं । दुःखी श्रावक श्राविका भी तभी उपभोग कर सकते हैं जब श्रीसंघ प्रदान करे, अन्यथा नहीं । देखिए-श्राद्धविधि के पृष्ठ

७७ में इस प्रकार का पाठ है—

“साधारणमपि द्रव्यं संघदत्तमेव कल्पते व्यापार-  
यितुं, न त्वन्यथा । संघेनाऽपि सत्तक्षेत्रीकार्यं एव  
व्यापार्यं, न मार्गणादिभ्यो देयं ।”

अर्थात्—साधारणद्रव्य भी संघ द्वारा ही प्रदत्त हो  
तभी उपभोग किया जा सकता है, अन्यथा नहीं, तथा  
संघ को भी चाहिए कि वह उस द्रव्य का सात क्षेत्रों के  
कार्यों में ही उपयोग करे, याचक वगैरेह को न दे ।

इस पर से स्पष्ट हो जाता है कि साधारण द्रव्य  
को भी प्रत्येक व्यक्ति स्वेच्छा से नहीं वापर (व्यय कर)  
सकता है । उचित प्रकार से श्री संघ ही उसका  
व्यय करने का अधिकारी है । साधारण द्रव्य और देव-  
द्रव्य में सिर्फ इतना अंतर है कि देवद्रव्य का व्यय केवल  
देवसंबंधी-मूर्ति-मंदिरादि के कार्यों में ही हो सकता है  
जबकि साधारण द्रव्य का सप्तक्षेत्रों में कर सकते हैं ।  
सातों क्षेत्रों में भी जो दयनीय दशा में हो, उनमें ही  
प्रधानतया व्यय करना चाहिए न कि जीमने जीमाने  
में ।

इस प्रकार जो खाता सातों ही क्षेत्रों का पोषण  
कर सकता हो, उसी खाते में द्रव्य की वृद्धि करना  
अधिक उपयोगी है । इस प्रकार से उक्त खाते की

पुष्टि हेतु लोगों को प्रेरणा करने वाले अथवा अमुक वर्षों से चली आ रही परम्परा में परिवर्तन करने का सूचन करने वाले को भवभ्रमण का भय बताना, यह शास्त्रों के रहस्य को नहीं समझने का ही परिणाम है।

सुना जाता है कि आणंदजी कल्याणजी की पेढी में देवद्रव्य की रकम बहुत है अतः साधारणखाते को पुष्ट बनाने की तरफ पेढी के कार्यकर्त्ताओं का ध्यान गया। परिणामतः पेढी के कार्यकर्त्ताओं की सूचना से ही, श्री सिद्धाचलजी की पेढी के कार्यकर्त्ता आगन्तुक यात्रियों को देवद्रव्य की बजाय साधारण खाते में ही रकमें लिखवाने (भरवाने) को कहते हैं, तो क्या इस प्रकार की प्रेरणा देने वाले भवभ्रमण करने वाले बनेंगे ? अस्तु !

सारांश- सम्पूर्ण लेख का सारांश यही है कि रीति-रिवाजों में सदैव समयानुकूल परिवर्तन होता ही आया है और हो भी सकता है। आरती-पूजा वगैरह की बोलो का रिवाज तो संघ की कल्पना से पड़ा हुआ है और रिवाज किसी विशेष कारण को लेकर पड़ा हुआ है। वस्तुतः यह रिवाज सुविहित आचरित नहीं है। इस प्रकार हीरविजयसूरि महाराज स्पष्टतापूर्वक कहते हैं तथा देवद्रव्य की वृद्धि की अपेक्षा साधारण द्रव्य को वृद्धि करने से सातों क्षेत्रों की पुष्टि हो सकती है। श्राद्धविधि, धर्मसंग्रह, संबोधसप्तति आदि ग्रन्थों

में देवद्रव्य एवं साधारण द्रव्य-इन दोनों की वृद्धि हेतु समान ध्यान देने का ही कथन किया गया है तथा किसी अपेक्षा से साधारण द्रव्य को अधिक महत्व दिया गया है। अतः अब तक जिन-जिन बोलियों के द्रव्य को देव-द्रव्य में ले जाया जाता रहा है अब से उन-उन बोलियों के द्रव्य को साधारण खाते में ले जाने का यदि श्री संघ निर्णय करना चाहे तो निःसंकोच कर सकता है और ऐसा करने में शास्त्रीय दोष किञ्चित् भी नहीं दिखता है। अतः विशेष रूप से प्रत्येक ग्राम और शहर के श्री संघों को अनुरोधपूर्वक कहता हूँ कि यदि डूबते हुए जैनसमाज को बचाना चाहते हो, प्रत्यक्ष यापरोक्ष रीति ( सीधी या टेढी रीति ) से, देवद्रव्य के भक्षण से लोगों को दूर रखना चाहते हो और सातों ही क्षेत्रों को पुष्ट करके जैनसमाज के प्रत्येक अंग को पुष्पित एवं फलित रूप में देखना चाहते हो तो इस महत्वपूर्ण विषय पर ध्यान देना और यदि यथार्थ-सत्य-उचित मार्ग लगे तो उस तरफ प्रवृत्ति करना और आपके समीपवर्ती अन्यान्य ग्रामों और शहरों के संघों को भी इस तरफ अर्थात् ऐसी ही प्रवृत्ति करने की प्रेरणा करना।

इतनी प्रेरणा कर, इस द्वितीय पत्रिका को यही समाप्त करता हूँ। इसके बाद तृतीय पत्रिका में भी इसी

प्रकार शास्त्रीय उल्लेखों ( पाठों ) के साथ 'देवद्रव्य की वृद्धि किस प्रकार से करना ? इस महत्वपूर्ण विषय का वांचन करने को उत्सुक रहने का अनुरोध कर विराम लेता हूँ ।

### पत्रिका नं० ३

देवद्रव्य की वृद्धि किस प्रकार से करना ?

देवद्रव्य, गुरुद्रव्य, ज्ञानद्रव्य और साधारणद्रव्य वगैरह धार्मिक द्रव्यों के अनेक भेद दिखाई देते हैं इन भेदों का मुख्य आधार द्रव्यदाता व्यक्ति का संकल्प ही है । जिस द्रव्य को, व्यक्ति जैसी-जैसी संकल्प बुद्धि से अर्पण करता है, वह द्रव्य उस उस छाते का गिना ( माना ) जाता है । देव को समर्पण बुद्धि से अर्पण किया हुआ द्रव्य या वस्तु ही देवद्रव्य माना या मानी जाती है इसी प्रकार गुरुद्रव्य, ज्ञानद्रव्य और साधारण द्रव्यादि के लिए भी समझना चाहिए । शास्त्रकार भी देवद्रव्यादि की उपयुक्तानुसार ही व्याख्या करते हैं । देखिए—द्रव्य सप्तति की दूसरी गाथा में कहा है -

“ओहारणबुद्धिं देवाईणं पकप्पिअं च जया । जं घण-धन्नप्पमुहं तं तद्दव्वं इहं णेयं ॥ १॥”

अर्थात् - निश्चयात्मक बुद्धि से देवादिक के लिए

जिन धन धान्यादि के अर्पण की कल्पना की हो, उनको देवद्रव्य कहना चाहिए ।

तात्पर्य यह कि जब तक किसी भी वस्तु ( द्रव्यादि ) को किसी भी कार्य में समर्पण करने का दृढसंकल्प नहीं किया हो तब तक वह वस्तु उस खाते की हो ही नहीं सकती है । शास्त्र में दृष्टान्त आता है कि 'मृग' नामक ब्राह्मण जो जैन था, उसने प्रभूपूजार्थ स्वपत्नी से भोजन तैयार करवाया, भोजन तैयार हो गया, इतने में एक मुनि भिक्षार्थ वहाँ पहुँच गये । उस समय ब्राह्मण ने अपना स्त्री एवं वारुणी नामकी पुत्री के साथ उस भोजन में से थोड़ा आहार अत्यधिक भावपूर्वक साधु भगवंत को वहोराया (प्रदान किया) । परिणामतः वे तीनों ही राजकुल में उत्पन्न हुए और उन्होंने अनेक प्रकारके सुख प्राप्त किए । तदनंतर भवान्तर में तीनों ने मोक्ष सुख को प्राप्त किया । (देखिये-द्रव्यसप्ततिका की दूसरी गाथा की टीका) ।

यह क्या बता रहा है ? कि जब तक कोई वस्तु निश्चय पूर्वक किसी खाते में अर्पण नहीं कर दी जाती तब तक वह वस्तु उस खाते की नहीं गिनी ( मानी ) जाती है । उपर्युक्त ब्राह्मण ने भगवान् को नैवेद्य चढ़ाने के लिए ही भोजन तैयार करवाया था, परन्तु अभी तक वह भोजन-सामग्री भगवान् को चढ़ा नहीं देने के कारण - अर्पण

बुद्धि से अर्पण नहीं करने के कारण, वह उस भोजन-सामग्री का अन्य कार्य में भी उपयोग करने का अधिकारी था और इसीलिए ही उसने उस भोजन - सामग्री में से साधु भगवंत को भी वहोराया । अद्यापि देखते हैं कि कई स्थानों पर शांतिस्नात्र होती है, तब उसमें रखने के लिए नैवेद्य, विशेषरूप से स्वतंत्र-पृथक् रसोई-घर ( रसोड़ा ) खोलकर बनाया जाता है । हम जानते भी हैं कि यह विशेष भोजन-सामग्री प्रभु पूजा में ही रखने के लिए बनवायी गयी है फिर भी वह भोजन-सामग्री - मिष्ठान्न वगैरह अन्य कार्यों में भी ले जा सकते हैं, ले जाते भी हैं, क्योंकि भोजन-सामग्री चाहे जितनी भी बनवाई हो, परन्तु पूजा के निमित्त की तो, उसमें से जितनी प्रभु के आगे चढ़ाई जाती है वही होती है । हाँ, प्रभु के आगे समर्पण करने के पश्चात् उसे दूसरे कार्यों में उपयोग में नहीं ले सकते हैं । इस प्रकार के अनेक दृष्टान्तों से मैंने अपनी प्रथम एवं द्वितीय पत्रिका में बता दिया है कि जब तक किसी भी वस्तु के लिए, किसी भी खाता विशेष के लिए समर्पण बुद्धि नहीं होती है तब तक वह वस्तु उस खाते की नहीं हो सकती है । अंगरचना के दिन लाखों के आभूषणों को भगवान् के अंग पर चढ़ाया जाता है फिर भी दूसरे दिन आंगी उतारते ही पुनः अपने-अपने घर ले जाते हैं । यह क्या

है ? यही कि वे आभूषण भगवान् को अर्पण नहीं किए गये हैं । इन्हीं कारणों को मैं अपनी द्वितीय पत्रिका में भी अनेक दृष्टान्तों, युक्तियों और शास्त्रीय प्रमाणों से बता चुका हूँ कि-

“जो द्रव्य देवद्रव्य के रूप में निर्णीत हो चुका है- एकत्रित हो चुका है । उसका तो मंदिरों और मूर्तियों के अतिरिक्त अन्य कार्यों में व्यय नहीं कर सकते हैं, परन्तु जो द्रव्य अभी तक देवद्रव्य में आया ही नहीं है और जिस द्रव्य के लिए किसी प्रकार का निश्चय ही नहीं किया है, उस द्रव्य को किस खाते में ले जाना चाहिए इसका यथोचित निर्णय, संघ करके उसी खाते में ले जाएं अब तक श्री संघ परिवर्तन करता ही आया है और ऐसा करने में किसी प्रकार का शास्त्रीय दोष भी नहीं है ।”

इस पत्रिका में मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ वह “देवद्रव्य की वृद्धि किस प्रकार से करना ?” इस संबंध में है ।

देवद्रव्य की वृद्धि के उपायों को जानने से पूर्व ‘देवद्रव्य की आवश्यकता’ समझना जरूरी है, परन्तु उस संबंध में मैंने अपनी प्रथम पत्रिका में ही स्पष्टीकरण कर दिया था कि- “मूर्ति के साथ में देवद्रव्य का अतिघनिष्ठ संबंध रहता आया है । जो मूर्ति को स्वी-



कार करते हैं, वे देवद्रव्य का निषेध कर ही नहीं सकते हैं क्योंकि जहाँ मूर्ति है वहाँ मूर्ति के लिए उपयोगी वस्तुएँ भी चाहिए ही ।” जैसे एक गृहस्थ को अपने घर के लिए उपयोगी राचरचीले ( फर्नीचर ) आदि सामान की जरूरत होती है, वैसे ही मूर्ति के लिए भी उपयोगी वस्तुओं की आवश्यकता रहती है । अथवा अक साधु को जितनी स्वचरित्ररक्षार्थ उपकरणों (साधनों) की आवश्यकता पड़ती है उतनी ही आवश्यकता मूर्ति के लिए मूर्ति संबंधी उपयोगी वस्तुओं की होती है । मूर्तियों के लिए मंदिरों का निर्माण करवाना, आभूषणादि करवाना, प्राचीन मंदिरों का जीर्णोद्धार करवाना तथा किसी भी प्रकार की भगवान् संबंधी होने वाली आशातनाओं को दूर करवाना इस प्रकार के कार्यों के लिए देवद्रव्य की अत्यधिक आवश्यकता है इसके लिए कोई भी मना नहीं कर सकता है और इसीलिए ही मैंने अपनी पूर्व की दोनों पत्रिकाओं में जोर-शोर से देवद्रव्य की आवश्यकता स्वीकृत की है । तदपि ( फिर भी ) कितने ही लोगों की ओर से ऐसा कोलाहल ( हो हल्ला ) करने में आया है कि, “ मानो मैं देवद्रव्य का निषेधक हूँ, मैं देवद्रव्य की समस्त ( सम्पूर्ण ) आय बन्द कर मंदिरों और मूर्तियों का उत्थापन करना चाहता हूँ ।” ऐसे मिथ्या ( झूठे ) आक्षेप ( आरोप ) लगाने वाले

जीवों की तरफ मैं अपने हृदय में भावदया ही रखता हूँ । उनके निराधार आरोपों के प्रति विशेष न कहकर सिर्फ इतना ही कहूँगा कि-‘हाथ कंकण को आरसी क्या?’ जब लोग मेरी पत्रिकाओं को ध्यानपूर्वक पढ़ेंगे तो वास्तविक-सत्य बात ज्ञात हो जाने पर, असत्य आक्षेप करने वालों के प्रति उनके मन में भी करुणा ही उत्पन्न होगी । कहने का तात्पर्य यह है कि देवद्रव्य की वृद्धि हेतु शास्त्रकारों का जो कुछ भी कथन है उसका कोई भी व्यक्ति प्रतिकार नहीं कर सकता है । शास्त्रकारों ने देवद्रव्य की वृद्धि के लिए बहुत कुछ कहा है । देखिए- ‘संबोधसप्तति’ के ६६वें गाथा में कहा है-

“जिणपवयणवुड्ढिकरं पभावगं नाणदंसणगुणाणं ।  
वड्ढंतो जिणदव्वं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥७६॥”

अर्थात्-‘जिन प्रवचन की वृद्धि करने वाले तथा ज्ञान-दर्शन गुणों के प्रभावक-ऐसे जिनद्रव्य की वृद्धि करने वाले जीव तीर्थङ्करत्व को प्राप्त करते हैं ।’ इसी प्रकार श्राद्धविधि के ७४वें पृष्ठ पर, द्रव्यसप्तति (प्रसारक सभा-भावनगर से छपी) के ३०वें पृष्ठ पर, धर्म-संग्रह के पृष्ठ १६७ पर, संबोधप्रकरण के पृष्ठ ४ पर, आत्मप्रबोध के पृष्ठ ७१ पर तथा दर्शनविशुद्धि के पृष्ठ ५२ पर,-वगैरह अनेक ग्रंथों में जिनद्रव्य की वृद्धि करने वाले के लिए महान् फल बतलाया है ।

शास्त्रकार इस प्रकार से सिर्फ वृद्धि के फल को बताकर ही चूप नहीं रहते हैं, परन्तु उन महापुरुषों ने देवद्रव्य की वृद्धि के मार्ग को भी दर्शाया है। अर्थात् 'वृद्धि किस प्रकार से करनी चाहिए?' यह भी बताया है देखिए—आत्मप्रबोध के पृष्ठ ७१ पर—

“वृद्धिरत्र अपूर्वापूर्वद्रव्यप्रक्षेपादिनावसेया । सा च पंचदशकर्मादानकुव्यापारवर्जनसद्व्यहारादिना एव कार्या अविधिना तु तद्विधानं प्रत्युत दोषाय सम्पद्यते ।”

अर्थात्—देवद्रव्य की वृद्धि अपूर्व-अपूर्व वस्तुओं के प्रक्षेप द्वारा करनी चाहिये और वह भी पन्द्रह कर्मादान और कुव्यापार द्वारा उपार्जित द्रव्य से नहीं, किन्तु सद्व्यवहार (सद्व्यापार) द्वारा ही करनी चाहिए, क्योंकि अविधि से वृद्धि करने पर तो उल्टा दोष लगता है।

दर्शनशुद्धि के पृष्ठ ५३ पर लिखा है—

“उचितांशप्रक्षेपादिना कलांतरप्रयोगादिना वा वृद्धिमुपनयन् तीर्थङ्करत्वं लभते जीवः ।”

उचित भाग को डालने अथवा आभरणादि द्वारा वृद्धि करने वाला जीव तीर्थङ्करत्व की प्राप्ति करता है।

धर्मसंग्रह के पृष्ठ १६७ पर लिखा है—

“वृद्धिरत्र सम्यग्रक्षणापूर्वाऽपूर्वधनप्रक्षेपादितोऽवसेया । वृद्धिरपि कुव्यापारवर्जं सद्व्यवहारादिविधिर्नैव कार्या ।”

अर्थात्-देवद्रव्य की वृद्धि, सम्यक् प्रकार से रक्षण और अपूर्व-अपूर्व धन के प्रक्षेपादि द्वारा करनी चाहिए। वृद्धि भी कुव्यापार को छोड़कर, सद्व्यवहारादि विधि-पूर्वक ही करनी चाहिए।

श्राद्धविधि के पृष्ठ ७४ पर-

“वृद्धिरत्र सम्यग्रक्षणापूर्वाऽपूर्वार्थप्रक्षेपादिना अवसेया।”

अर्थात्-वृद्धि सम्यक् प्रकार से रक्षण एवं अपूर्व-अपूर्व द्रव्यादि (वस्तु वगैरह) का प्रक्षेपादि (डालने) द्वारा करनी चाहिए।

इस प्रकार अनेक ग्रन्थों में देवद्रव्य की वृद्धि करने का उपाय बताया गया है। उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि देवद्रव्य की वृद्धि, भण्डार में अनेक प्रकार की उत्तमोत्तम वस्तुओं को डालने-रखने से करनी चाहिये। फिर वे उत्तमोत्तम वस्तुएं (द्रव्यादि) चाहे जिस निमित्त से भी भंडार-मंदिर को अर्पण की जाये, परन्तु वे देवद्रव्य की वृद्ध्यर्थ ही गिनी जाती है। देखिए तो सही देवद्रव्य की वृद्धि हेतु कैसे-कैसे कार्य करने के शास्त्रों में उल्लेख आते हैं—

धर्मसंग्रह के पृष्ठ २४५ पर—

“देवद्रव्यवृद्ध्यर्थं प्रतिवर्षं एन्द्री अन्या वा माला

यथाशक्ति ग्राह्या, एवं नवीनभूषणचन्द्रोदयादि यथाशक्ति मोच्यं ।”

अर्थात्-देवद्रव्य की वृद्धि के लिये प्रतिवर्ष इन्द्रमाला अथवा दूसरी कोई माला यथाशक्ति ग्रहण करनी चाहिए और यथाशक्ति नवीन आभूषण तथा चन्द्रवें वगैरह रखने चाहिए ।

इसी प्रकार से श्राद्धविधि के पंचम प्रकाश में जहाँ श्रावकों के वार्षिक कृत्यों को गिनाया गया है वहाँ भी कहा गया है कि-

“जिनघनस्य-देवद्रव्यस्य वृद्धिर्मालोद्घट्टनेन्द्रमालादिपरिधानपरिधापनिकाधौतिकादिमोचनद्रव्योत्सर्पणपूर्वकारात्रिकविधानादिना ।” (देखिए पृष्ठ १६१)

अर्थात्-देवद्रव्य की वृद्धि माला ग्रहण करके, इन्द्रमाला पहिनकर, पहरामणी एवं धोतियों वगैरह को रखकर तथा द्रव्य रखकर एवं आरती उतारकर करनी चाहिये ।

उपर्युक्त सभी उपाय देवद्रव्य की वृद्धि के ही हैं, परन्तु वे सभी प्रत्येक समय में एक ही पद्धति से प्रचलित नहीं रहे तथा रहने के भी नहीं, क्योंकि कितने ही परिवर्तन श्रीसंघों ने अपनी सूझबूझ से किए हैं, जैसे इन्द्रमालादि के रिवाजों में श्रीसंघ के द्वारा हुए परिवर्तन

का हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। तब फिर संघ द्वारा ही समर्थित बोली वगैरह के रीति-रिवाजों में परिवर्तन क्यों नहीं हो सकता? इसके अतिरिक्त एक और भी बात समझने जैसी है वह यह है कि इतिहास इस बात का साक्षी है कि मंदिरों की रक्षार्थ, उसके व्यय हेतु किसी-किसी स्थान पर निर्माणकर्त्ताओं अथवा वहाँ के राजाओं द्वारा गाँव भी दिये जाने का उल्लेख है। किसी-किसी स्थान पर व्यापार पर से अथवा प्रतिघर से टेक्स-रूप में चन्दा लेने के दृष्टान्त भी मिलते हैं। यथा—

राजा सिद्धराज ने सिद्धाचलतीर्थरक्षार्थ बारह गाँव दिये थे। हस्तिकुंडी के राजा विदग्धराज ने वासुदेवाचार्य के उपदेश से निर्मापित (बनाये हुए) मंदिर के लिए बहुत सा टेक्सरूप में चन्दा (लागा) करके दिया था। उसके पुत्र मम्मट ने उन लागाओं को और भी मजबूत कर दिया था। पालनपुर में पहले के समय में प्रतिगुण पर सुपारी का लागा (टेक्स) था। जिससे प्रतिदिन १६ मण सुपारी मंदिर में आती थी। राणाकुम्भकर्ण के समय में (सं० १४६१ में) श्री चिंतामणिपार्श्वनाथ की पूजार्थ देलवाडा (मेवाड़) में मांडवी ऊपर १४ टके का लागा (टेक्स) डाला गया था।

अभी भी उदयपुर महाराणा की तरफ से अनेक मंदिरों की व्यवस्था के लिए प्राप्त भूमि मौजूद है वैसे

ही रोकड इन्कम (आय) भी प्राप्त होती ही रहती है। इसी प्रकार पूव प्रदेश के भी कई मंदिर ऐसे हैं जिनकी व्यवस्था मंदिरों को मिले हुए गाँवों अथवा बंधे हुए करों-टेक्सों (लागाओं) से चलता है।

किन्तु ग्राम, ग्रास अथवा लागा, प्रत्येक मन्दिर के लिये मिले ही हो अथवा मिल सकते हो ऐसा कुछ नहीं है। इसी कारण किसी भी मंदिर में चाहे जैसे उचित रिवाज मंदिर के निर्वाह हेतु बना दिये गये हो, उनमें परिवर्तन हो ही नहीं सकता है, ऐसा कहना नितांत असत्य है। कई बार ऐसा भी होता है कि एक रिवाज किसी स्थान पर किसी कारणवश चालू कर दिया गया हो। दूसरे गांववालों ने उसका अनुकरण कर दिया, फिर तीसरे ने, चौथे ने कर दिया और इस प्रकार वर्षो-परान्त वह रिवाज सर्वत्र प्रवेश कर गया। परिणामतः वह रिवाज मानों अनादिकाल से ही चला आ रहा हो। इस प्रकार की धारणा हो गई। दृष्टान्तस्वरूप-स्वप्न उतारने की परम्परा। स्वप्न उतारने की परंपरा नूतन ही है। यह बात सबको मान्य है, कोई मना नहीं कर सकता। इसका पुष्ट प्रमाण यही है कि पहले कल्पसूत्र का वाँचन सिर्फ साधु करते थे और साध्वियाँ श्रवण

करती थी। उस समय स्वप्न उतारे जाते थे क्या? स्वप्नों की बोली होती थी क्या? इसका उत्तर नकारात्मक ही मिलेगा। अतएव स्वप्न उतारने की परंपरा नवीन ही है। यह निर्विवाद सिद्ध है। इसमें किञ्चित् भी शंका को स्थान नहीं है। ऐसा हुआ कि कुछ वर्षों पूर्व किसी गाँव में भक्तिनिमित्त अथवा किसी भी कारण से स्वप्न उतारे गये। उसका अनुकरण दूसरे ने किया।

बढ़ते-बढ़ते यह रिवाज इतना अधिक बढ़ गया कि आज प्रायः प्रत्येक ग्राम में स्वप्न उतारे जाते हैं परन्तु इसपर से यदि कोई व्यक्ति ऐसा कह दे कि 'स्वप्न का रिवाज तो अनादिकाल से चला आ रहा है--प्राचीन है।' तो क्या इस बात को कोई सत्य मान सकता है? इससे कोई यह न समझ ले कि यह रिवाज गलत है अतः इसकी आवश्यकता नहीं है? मेरा अभिप्राय ऐसा नहीं है, किन्तु मेरा कथन इतना ही है कि 'भले ही भक्ति निमित्त नये-नये उचित रिवाज चालू हुए हो' परन्तु यथार्थ बात को समझना चाहिये। इसी प्रकार बोलीका रिवाज भी प्रचलित है। विचारणीय प्रश्न तो यह है कि यह बोली बोलने का रिवाज अनादिकाल से ही चला आ रहा है या कुछ वर्षों से ही चला है? तथा इस रिवाज में परिवर्तन भी हो सकता है या नहीं? इसका मध्यस्थ दृष्टि से अवलोकन करना चाहिये। 'प्राचीन रिवाज है,



प्राचीन परम्परा है ।' इस प्रकार कहकर भद्रिक लोगों को चक्कर में डालना उचित नहीं है । इस बोली की परंपरा के विषय में मैंने अपनी प्रथम और द्वितीय पत्रिका में बहुत कुछ लिख दिया है । इससे पाठक लोग समझ गये होंगे कि बोली बोलकर देवद्रव्य की वृद्धि का उल्लेख या विधान किसी भी शास्त्र में नहीं है । इस पत्रिका में भी 'आत्मप्रबोध', 'दर्शनशुद्धि', 'धर्मसंग्रह' और 'श्राद्ध-विधि' वगैरह ग्रंथों के उद्धरण देवद्रव्य वृद्धयर्थ दिये गये हैं उनमें भी कहीं ऐसा उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता है कि बोलियाँ द्वारा देवद्रव्य की वृद्धि करनी चाहिये । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बोली बोलने का रिवाज शास्त्रीय रिवाज नहीं है किन्तु यह रिवाज संघ द्वारा ही बाद में चलाया गया है ।

प्रभुभक्ति अथवा धार्मिक कृत्यों के लिये इस प्रकार के रीतिरिवाज होने ही नहीं चाहिये, ऐसी जिनाज्ञा हो ही नहीं सकती । प्रभुभक्ति के निमित्त किसी प्रकार का कलह न हो, इसलिये हम सुविधानुसार परम्पराएँ बना देते हैं अतः उन परम्पराओं में समय-समय पर परिवर्तन भी हो सकता है किन्तु जहाँ इस प्रकारके कलह को स्थान ही नहीं है जहाँ इस प्रकार के रिवाज होते ही नहीं हैं । देखिए, तीर्थङ्कर भगवन्तो के जन्मादि कल्याणकों के समय इन्द्र और देवता महोत्सव करते हैं,

अनेक प्रकार से भक्ति करते हैं किन्तु उस महोत्सव के समय में भक्ति निमित्त किसी भी कार्य हेतु बोली बोलने का उल्लेख कहीं पर भी दृष्टिगोचर होता है क्या ? नहीं । किन्तु, क्यों नहीं ? यहाँ पर यह कहना ही पड़ेगा कि उनमें इस प्रकार के कलह का प्रश्न ही नहीं उठता है । उन्हें देवद्रव्यवृद्धि की आवश्यकता ही महसूस नहीं होती है जिससे कि शक्रेन्द्र इस प्रकार से कहने लगे कि मैं भगवान् को अपनी गोद में लूँगा और दूसरे इन्द्र कहने लगे कि हम गोद में लेंगे ? वहाँ तो सभी को अपने-अपने अधिकार के अनुसार कार्य करने होते हैं । अतः वहाँ पर बोली का प्रश्न ही नहीं उठता है । बोली तो अपने यहाँ ही होती है जहाँ कि एक सेठ कहता है कि मैं ही प्रथम पूजा करूँगा, उस समय दूसरा कहता है कि मैं क्या इससे कम पैसों वाला हूँ कि इसके बाद दूसरी पूजा करूँ ? प्रथम पूजा करके भगवत्पूजा का फल यही लेकर चल देगा, उस समय हम तो हवा ही खाते रहेंगे न ? इस प्रकार के कलह निवारणार्थ बोली के अतिरिक्त अन्य उपाय ही क्या हो सकता है ? जैसे किसी भी कार्य के समाधान हेतु कई लोग चिट्ठी डालते हैं अर्थात् किसी भी कार्य में दो मत हो जाते हैं अथवा स्वान्तःकरण में ऐसा हो जाय कि यह करूँ या वह करूँ ? उस समय उस शंका के समाधानार्थ प्रभु के अंक में कई लोग चिट्ठियाँ डालते हैं । उसमें जो चिट्ठी

पहले आती है, उस कार्य को करने लगता है। यह चिट्ठी डालने का रिवाज क्या शास्त्रीय है? चिट्ठी डालने की अपेक्षा शंकरनिवारणार्थ यदि कोई अन्य मार्ग अपनाना चाहे तो क्या नहीं अपना सकता है? अपना सकता है। बस, इसी प्रकार भक्ति के कार्यों में भी क्लेशनिवारणार्थ ही बोली का रिवाज चालू किया है अतः उसमें परिवर्तन भी कर सकते हैं। यह रिवाज शास्त्रीय नहीं है यह सिद्ध होता है। इसीलिए परम-प्रभावक, महान् गीतार्थ अकबर प्रतिबोधक आ० श्रीमद् विजय हीरसूरि महाराज को भो कहना पड़ा कि—  
 “तैलादिमाननेन प्रतिक्रमणाद्यादेशप्रदानं न सुविहिता-  
 चरितं, परं क्वा क्वापि तदभावे जिनभवनादिनिर्वाहा-  
 संभवेन निवारयितुमशक्यमिति।” (हीरप्रश्नोत्तर, तीसरा  
 प्रकाश, प्रश्नोत्तर ११)

अर्थात्-तेलादिकी बोली से प्रतिक्रमण में आदेश प्रदान करना, यह सुविहिताचरित नहीं है, परन्तु किसी-किसी स्थान पर इन बोलियाँ के अतिरिक्त जिनभवनादि का निर्वाह असम्भव होने से, उस रिवाज का निवारण अशक्य है।

श्री हीरसूरि महाराज के उपर्युक्त वचन से यह सिद्ध होता है कि बोली का रिवाज, शास्त्रीय रिवाज

नहीं है, प्रभु-आज्ञा नहीं है। किसी आगम में भी बोली बोलने का विधान नहीं है। ज्ञानभण्डारों में जैसे ४५ आगम विद्यमान है वैसे ही पूर्वाचार्यों द्वारा रचित सहस्रग्रन्थ भी विद्यमान है। उनमें से एक भी आगम अथवा प्राचीन ग्रन्थ में देवद्रव्य की वृद्धि-हेतु अथवा किसी भी कार्य के लिए बोली बोलने का विधान दृष्टि-गोचर नहीं होता है। यह क्या संकेत दे रहा है। यदि पूजा-आरती इत्यादि कार्यों में बोली बोलने की प्रभु-आज्ञा होती तो क्या किसी भी आगम, भाष्य-टीका-चूर्णी अथवा प्राचीन ग्रन्थ में वर्णन नहीं होता? किन्तु वर्णन नहीं मिलता है इससे यहीं निष्कर्ष निकलता है कि यह रिवाज प्राचीन नहीं है। प्रभुआज्ञा भी नहीं है किन्तु अर्वाचीन ग्रंथों में अथवा जिन ग्रंथों के रचना काल में यह रिवाज प्रचलित हो तो उन-उन ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिल भी सकता है इससे यह नहीं कहा जा सकता कि यह रिवाज प्राचीन अथवा शास्त्रीय है। प्रत्येक व्यक्ति यह तो समझ ही सकता है कि जो ग्रंथ जिस काल में रचा गया है उस ग्रंथ में उस समय के प्रचलित रीति-रिवाजों का वर्णन होना स्वाभाविक है। बीसवीं शताब्दि में लिखने वाला व्यक्ति स्वप्न उतारने का तथा उस समय में बोली जाने वाली बोलियों का एवं पारणा आदि की बोली बोलकर उस पर ढके जाने

वाले दर्जन के दर्जन रूमालों का वर्णन कर सकता है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आज से ५०, १०० या २००-५०० वर्षों बाद पढ़ने वाले उस बात को शास्त्रीय मान लें अथवा 'अनादिकाल से ऐसे ही चला आ रहा है अतः उसमें हम परिवर्तन ही नहीं कर सकते' यदि ऐसी प्ररूपणा की जाएँ तो उस प्ररूपणा को हम सत्य कहेंगे क्या ? जो बात कुछ समय पूर्व ही घटित हुई हो किन्तु पुस्तक में लिखी गई है अतः वह अनादिकाल से चली आ रही है अथवा प्रचीनप्रथा ही है। ऐसी मान्यता अथवा श्रद्धा वालों के ऊपर हमें आश्चर्य नहीं होगा क्या ? जब तक प्राचीनता के प्रबल प्रमाण प्राप्त नहीं हो तथा जबतक प्राचीनग्रन्थों में ऐसा लिखा हुआ नहीं मिले कि इसमें परिवर्तन ही नहीं हो सकता है, तबतक सिर्फ बातें करने से कौन मानेगा ? क्योंकि अपनी प्रथम पत्रिका में ही मैंने अपने मन्तव्य को प्रकट कर दिया है कि "बोली बोलना अनादिकालीन प्रथा नहीं है और शास्त्रीय भी नहीं है। कुछ वर्षों से ही संघ द्वारा प्रचलित प्रथा है। इसीलिए बोली का द्रव्य (पैसा) साधारण खाते में ले जाने का यदि संघ निश्चय करना चाहे तो सहर्ष कर सकता है, इसमें किसी प्रकार का शास्त्रीय प्रतिबन्ध नहीं है।" इन दोनों बातों के विरुद्ध में जबतक आगमों और प्राचीन ग्रन्थों में प्रबल प्रमाण

नहीं मिल जाते तब तक उन्हें गलत मानने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता है ।

यह आश्चर्य की बात है कि अपने भण्डारों में ४५ आगम और पूर्वाचार्यों के सहस्रग्रन्थों के विद्यमान होने पर भी, एकमात्र “श्राद्धविधि” ग्रन्थ की एक पंक्ति में आये ‘उत्सर्पण’ शब्द को आगे कर मेरे उपर्युक्त विचारों को असत्य करने का प्रयत्न किया जा रहा है, किन्तु उस उत्सर्पण शब्द का अर्थ क्या होता है ? जहाँ-जहाँ ‘उत्सर्पण’ शब्द आया है वहाँ-वहाँ उसके क्या-क्या अर्थ होते हैं और ‘उत्सर्पण’ शब्द के अर्थ में बोली बोलने की गंध भी आती है या नहीं ? ये सब बातें “बोली बोलने के विधान श्राद्धविधि में है क्या ?” इस नाम के ‘ट्रेक्ट’ में प्रवर्तक श्री मंगलविजयजी ने विस्तार से बताया है अतः उसका पिष्टपेषण न करते हुए प्रत्येक व्यक्ति को वह ‘ट्रेक्ट’ ध्यानपूर्वक पढ़ने की सूचना करता हूँ । उस ट्रेक्ट के पढ़ने से सबको ही ज्ञात हो जायेगा कि ‘उत्सर्पण’ शब्द का अर्थ ‘बोली बोलना’ किसी भी कोश या ग्रन्थ में नहीं किया गया है और वैसा अर्थ हो भी नहीं सकता ।

अेक और भी आश्चर्य ! कोई तो “श्राद्धविधि” के ‘उत्सर्पण’ शब्द को उत्सर्पिणी काल के साथ तुलना कर

‘बोली बोलना’ ऐसा अर्थ करने का प्रयत्न करता है, किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि ऐसा करने का प्रयत्न करने से तो ‘उल्टी मस्जिद कोटे बलगी’ जैसा हो गया। यह देखा नहीं जाता कि ‘उत्सर्पिणी काल’ का अर्थ क्या है ? “जिस काल में रूप-रस-गन्ध-स्पर्श की वृद्धि होती है, उसकाल को उत्सर्पिणी काल कहा जाता है।” इस बात को जैनशैली का थोड़ा भी ज्ञाता, एक बालक भी समझ सकता है। तब फिर ‘उत्सर्पिणी काल’ के साथ ‘द्रव्योत्सर्पणपूर्वकारात्रिकविधानादिना’ इस पाठ का क्या सम्बन्ध है ? उत्सर्पिणी काल का अर्थ ‘जिस काल में रूप-रस-गंध-स्पर्श की बोली बोली जाती हो’ ऐसा करना चाहते हैं क्या ? किसी भी काल में रूप-रस-गंध-स्पर्श की बोली बोली जाती हो ऐसा क्या किसी ने सुना है ? इस तत्त्वज्ञान ने तो कुछ नयी ही बात प्रकट की है। जो त्रिकाल में भी सिद्ध न हो सके या किसी की भी बुद्धि में न बैठ सके, वह तत्त्वज्ञान किसे चकित नहीं कर सकता है ? यह तो आसमान में चढ़ने के लिये धूँ का आलम्बन लेने जैसा आश्चर्य जनक किसे नहीं लगेगा ?

देवद्रव्य की वृद्धयर्थ ऐसी अनेक नई प्रथाएँ चालू होती हैं और पुरानी प्रथाएँ धीरे-धीरे विलीन होती रहती हैं अर्थात् जिस समय में, जिस क्षेत्र में देवद्रव्य की

वृद्धि के जो साधन अनुकूल मालुम होते हैं उस समय में, उस क्षेत्र में, उन साधनों का उपयोग किया जाता है और उनमें संघ द्वारा परिवर्तन भी होता रहता है। भाव नगर में चाँदी के रथ का नकरा पहले ४५ रुपये का था किन्तु बाद में घटाकर २५ रुपये का कर दिया। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी जहाँ जहाँ रथ, पालखी, आंगी, मुकुट वगैरह नई चीजें तैयार होती हैं वहाँ-वहाँ का संघ उस स्थान के संयोगों के अनुकूल अलग-अलग नकरा निर्धारित करता है। कारणवश उसमें परिवर्तन भी करता है। इससे कोई यह नहीं समझ ले कि इसप्रकार की प्रथाओं में परिवर्तन करने वाला संघ अथवा इस प्रकार का उपदेशक आमदनी का हानिकर्त्ता अर्थात् भंग करने वाला गिना जाता है। यदि इस प्रकार के रिवाजों में परिवर्तन करने वाला व्यक्ति आमदनी का नाशक माना जाय, तब तो अब तक असंख्य रिवाजों में परिवर्तन करने वाले कितने ही संघ तथा आचार्य आमदनी के नाशकर्त्ता हो जाय। अरे! स्वयं जो "रिवाजों में परिवर्तन हो ही नहीं सकता है" इस प्रकार के सिद्धान्त की प्ररूपणा करते हैं" उन्होंने भी अब तक कितने ही रिवाजों में परिवर्तन करने का उपदेश बहुत से गाँवों में दिया है और किसी-किसी स्थान में परिवर्तन कराये भी हैं। तब वे स्वयं भी क्या उस नियम के



भंगकारक नहीं बनते हैं ? इसका विचार वाचकवृन्द स्वयं करें।

वस्तुतः ऐसा कुछ नहीं है। बोली जैसे रिवाजों में परिवर्तन करने से आमदनी के भंगकर्त्ता नहीं बन सकते हैं। जो इन रिवाजों के परिवर्तन में आमदनी के नुक-  
शान का पाप बताते हैं, वे 'द्रव्यसप्तति' की इस गाथा का आश्रम लेते हैं।

“आयाणं जो भंजइ पडिवन्नधणं न देइ देवस्य ।

गरहंतं चोविकखइ सोवि हु परिभमइ संसारे ॥१॥

परन्तु इस गाथा का वास्तविक अर्थ क्या है ? वह देखते हैं। सर्वप्रथम शब्दार्थ देखिए—

आयाणं = आदाण (किराये)

को ।

जो = जो

भंजइ = तोड़ता है ।

पडिवन्नधणं = स्वीकृत

धन को ।

न = नहीं ।

देइ = देता है ।

देवस्य = देव का ।

गरहंतं = दूषितकर्त्ता को ।

च = और

उविकरवइ = उपेक्षा करता है ।

सोवि = वह भी ।

हु = निश्चय

परिभमइ = परिभ्रमण करता है ।

संसारे = संसार में ।

यह तो इस श्लोक का शब्दार्थ हुआ । अब इसके सम्पूर्ण अर्थ को देखिए—‘देवसम्बन्धित किराये को जो तीड़ता है, स्वीकृत धन को नहीं देता है और देवद्रव्य के दूषितकर्ता की उपेक्षा करता है, वह निश्चित ही संसार में परिभ्रमण करता है ।’

इसमें बोली या किसी भी रिवाज सम्बन्धी कुछ आया है क्या ? यदि नहीं आया है तो फिर इस पाठ को प्रस्तुत करने से क्या प्रयोजन ? द्रव्य सप्तति के टीकाकार ने भी ‘आयाणं’ का क्या अर्थ किया है ? वह भी देखिए—आयाणमिति व्याख्या—आदानं तृष्णाग्रह-ग्रस्तत्वात् देवादिसत्कं भाटकं यो भनक्ति—अर्थात्-टीकाकार तो ‘आयाणं’ शब्द का अर्थ देवसम्बन्धी (देवद्रव्य के मकान सम्बन्धी) किराया ही करते हैं । ठीक भी है, ‘मैं इतना किराया दूँगा’ यह स्वीकार करने के पश्चात् वह नहीं दे या किराया तोड़ दे तो वह संसार में परिभ्रमण करता है यह तो स्पष्ट ही है ।

उपर्युक्त गाथा दर्शनशुद्धि के पृष्ठ ४६ में भी है । दर्शनशुद्धि में वह गाथा इस प्रकारसे दी है—

आयाणं जो भंजइ पडिवन्नं धणं न देइ देवस्य ।

नस्संतं समुवेक्खइ सोविहु परिभमइ संसारे ॥५५॥

इस गाथा का अर्थ ऊपर लिखा जा चुका है फिर भी

विशेष स्पष्टता हेतु लिखना आवश्यक है कि उपर्युक्त गाथा में तीन को भवभ्रमणकर्त्ता कहा गया है—(१) आदान भंगकर्त्ता (२) प्रतिपन्न धन को नहीं देने वाला और (३) नाश होते हुए की उपेक्षा करने वाला। इन तीनों का टीकाकार ने जो स्पष्टार्थ किया है वह इस प्रकार है—

( १ ) आदानभंगकर्त्ता—राजामात्यादिवितीर्णक्षेत्र-गृहहट्टग्रामादि यो भनक्ति लुम्पति—अर्थात्—राजा, मंत्री इत्यादि द्वारा प्रदत्त क्षेत्र, घर, बाजार (हाट) अथवा ग्राम वगैरह को तोड़ता है अथवा उनका लोप करता है, वह।

(२) प्रतिपन्न धन को नहीं देने वाला—अभियमाणे पित्रादौ स्वयं वा धर्मनिमित्तमेतावद्दास्यामीति कल्पित-द्रव्यं न ददाति न दितरति देवाय। अर्थात्—पितादि के मरने पर अथवा स्वयं धर्मनिमित्त 'मैं इतना दूँगा' इस प्रकार की कल्पना से स्वीकृत धन को नहीं देता है—देव निमित्त उपयोग नहीं करता है, वह।

(३) नाश होते हुए की उपेक्षा करने वाला—नश्यदाय-दानादिकमेव प्रलीयमानं तच्चित्तकभक्षणादिना केनचित्-प्रकारेण, यो यत्करिष्यति स तत्फलमवाप्स्यतीति बुद्ध्या समुपेक्षते, न प्रतिजागति सामर्थ्ये सतीत्यध्यायं, सोऽपि।

अर्थात्—आदान वस्तुओं (उपर्युक्त) का, रक्षक द्वारा

भक्षणादि करने से या किसी अन्य प्रकार से भी यदि नाश होता हो, उसको रोकने का सामर्थ्य होने पर भी 'जो नाश करेगा वह उसका फल पायेगा' इस प्रकार की बुद्धि से यदि उसकी उपेक्षा करता है और जागृत नहीं होता है अर्थात् ध्यान नहीं देता है, वह भी ।

इन तीनों का टीकाकार ने जो उल्लेख किया है उससे ऐसा कुछ भी अर्थ नहीं निकलता है कि रिवाजों में परिवर्तन करने वाला संसार में परिभ्रमण करता है । इसपर भी 'रिवाजों में परिवर्तन हो ही नहीं सकता है।' इस बात की पुष्टि हेतु उपर्युक्त गाथार्थ का स्पष्टतया कथन किये बिना ही गाथा आगे कर दी जाती है । यह आश्चर्यजनक बात है ।

इस प्रसंग पर एक अन्य बात को स्पष्ट करना आवश्यक समझता हूँ । वह यह है कि 'दर्शनशुद्धि' की उपर्युक्त गाथा में आये हुए 'आदान' शब्द की स्पष्टता करते हुए अवश्य कहा गया है कि जो 'क्षेत्र-घर-बाजार और ग्रामादि का लोप करता है वह भवभ्रमण करता है।' किन्तु इससे कोई यह न समझ ले कि 'देवद्रव्य की वृद्धि हेतु क्षेत्र-घर-बाजार और ग्रामादि रखने ही चाहिए और यदि नहीं हो तो नये बनाने चाहिए।' देवद्रव्य की वृद्धि हेतु ऐसे कार्यों (आरम्भ-समारम्भ) का उपदेश

देना भी साधु के लिये निषिद्ध है। देखिए 'श्राद्धविधि' के ७४ पृष्ठ पर देवद्रव्य विनाश की उपेक्षा करने वाले साधु को भी अनन्त-संसारों बताया गया है जबकि वही पर यह शंका भी की गई है कि "अथ त्रिधा प्रत्याख्यातसावद्यस्य तेश्चैत्यद्रव्यरक्षायां की नामाधिकारः?" अर्थात् करना, कराना और अनुमोदन करना-इन तीनों ही प्रकार के पाप से निवृत्त साधु को देवद्रव्य की रक्षा का क्या अधिकार?" इसका उत्तर निम्नानुसार दिया गया है— "यदि राजामात्याद्यभ्यर्थनपुरस्सरं गृहहट्ट-ग्रामादिकादानादिविधिना नवमुत्पादयति, तदा भवति भवद्विवक्षितार्थसिद्धिः। यदा तु केनचिद्यथाभद्रकादिना धर्माद्यर्थं प्राग्वितीर्णमन्यद्वा जिनद्रव्यं विलुप्यमानं रक्षति तदा नाभ्युपेतार्थहानिरपितु विशेषतः पुष्टिरेव सम्यग् जिनाज्ञाराधनात्।"

अर्थात्- राजा अथवा अमात्य वगैरह को निवेदन कर, उनके पास से घर, बाजार, ग्रामादि ग्रहण कर, उनके द्वारा नया द्रव्य पैदा करना है तब आपके कथनानुसार अर्थ की सिद्धि हो सकती है किन्तु यदि किसी भद्र पुरुष द्वारा धर्मादि के लिए पूर्व में दिया हुआ अथवा दूसरा किसी प्रकार का जिनद्रव्य नाश हो रहा हो, उसकी रक्षा करता है। उससे इच्छित अर्थ की हानि नहीं होती है अर्थात् किसी प्रकार का दोष नहीं लगता है, अपितु

सम्यक् रूपेण जिनेश्वर की आज्ञा की पृष्टि ही होती है ।

उपर्युक्त अर्थ से स्पष्टतया मालुम हो जाता है कि देवद्रव्य की वृद्धि के लिये ग्राम, बाजार या क्षेत्रादि का उपदेश देना, साधु के लिये सर्वथा निषिद्ध है । देवद्रव्य की वृद्धि हेतु इस प्रकार के नये साधन भी उत्पन्न नहीं किये जा सकते हैं । हाँ, यदि स्वयमेव कोई गृहस्थ इस प्रकार की वस्तुओं को प्रदान करता है तो निःसंकोच देवमंदिर और प्रतिमाव्यवस्था के लिये उनका उपयोग हो सकता है तथा यदि उन वस्तुओं का विनाश होता हो तो साधु अथवा गृहस्थ कोई भी उसकी उपेक्षा नहीं ही कर सकता है और यदि करता है तो पाप का भागीदार होता है ।

अब तक के वृत्तान्त से देवद्रव्य संबंधी वृद्धि के उपायों को शास्त्रीय दृष्टि से अच्छी तरह देख चुके हैं किन्तु उसमें की अभी तक एक बात की स्पष्टता करना चाहता हूँ । देवद्रव्य की वृद्धि के जो उपाय बताये गये हैं उनके सम्बन्ध में दर्शन शुद्धि के पाठ में “कलान्तरप्रयोगादिनावा” कहा गया है अर्थात् आभूषण रखकर देवद्रव्य व्याज पर देकर भी देवद्रव्य की वृद्धि करने को कहा गया है । इस कथन के साथ अन्य शास्त्रकारों की कहाँ तक बातें मिलती है उन्हें भी देखना चाहिये ।

वैसे तो देवद्रव्य की वृद्धि हेतु सर्वोत्कृष्ट और सर्वमान्य उपाय अपूर्व अपूर्व वस्तुओं का अर्पण करना ही है। पहले हम कह चुके हैं कि पन्द्रह कर्मादान और कुव्यापार का त्याग कर सद्व्यवहार द्वारा ही देवद्रव्य की वृद्धि करना चाहिए परन्तु श्राद्धविधिकार के अनुसार कई आचार्यों का ऐसा भी मत है कि श्रावकों के अतिरिक्त अन्य किसी के पास से बहुमूल्य आभूषण को ग्रहण कर और ब्याज पर देकर भी देवद्रव्य की वृद्धि करना उचित है। देखिए 'श्राद्धविधि' ग्रन्थ के पृष्ठ ७४ में क्या कहा है ?

“केचित्तु श्राद्धव्यतिरिक्तेभ्यः समधिकग्रहणकं गृहीत्वा कलान्तरेणापि तद्वृद्धिरुचितैवेत्याहुः।”

इसका अर्थ ऊपर बता दिया गया है। इसी प्रकार का पाठ 'आत्म-प्रबोध' ग्रन्थ के पृष्ठ ७१ में भी है। अन्य प्रकार से 'आत्मप्रबोध' ग्रन्थ के पृष्ठ ६८ में कहा गया है— 'देवद्रव्यं व्याजेन न ग्राह्यं' देवद्रव्य व्याज से ग्रहण नहीं करना चाहिए। यह क्या बता रहा है ? यही कि देवद्रव्य व्याज पर नहीं देना चाहिए। इस पर भी यदि देना ही पड़े, तो कतिपय आचार्यों के मतानुसार श्रावक के अतिरिक्त दूसरे को बहुमूल्य आभूषण रखकर व्याज पर देना चाहिये। इस

प्रकार करने से किसी भी समय पर देवद्रव्य की मूल रकम के नाश होने का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होगा ।

देवद्रव्य की वृद्धि के लिए शास्त्रकारों ने कितना गंभीर विचार किया है ? यह सत्य भी है कि देवद्रव्य की वृद्धि मन्दिरों और मूर्तियों के लिए जिन साधनों की आवश्यकता होती है, उसके लिये ही की जाती है न कि रखने के लिये । द्रव्य साधन है न कि साध्य । गृहस्थों के लिये भी यही नियम लागू होता है । जो गृहस्थ द्रव्य को साधन न मानकर साध्य मानते हैं, उनका द्रव्य भी निष्प्रयोजन ही है । जब गृहस्थों के लिये भी ऐसी स्थिति है तब फिर धार्मिक-द्रव्य के लिये विशेष ध्यान देना उपयुक्त ही है । यदि इस नियम का पालन किया जाता तो आज मेवाड़-मारवाड़ और ऐसे ही अनेक अन्य स्थानों में जिनमन्दिर जीर्ण हो रहे हैं, मन्दिरों में पेड़-पौधे घास वगैरह उग रही है । मूर्तियों पर मूल चढ़ रहा है अनेक तीर्थभूमियों में भयंकर आशातनाएँ हो रही है । यह सब देखने का हमें अवसर भी न मिलता । अरे ! एक मन्दिर का द्रव्य समीपवर्ति अन्य मन्दिर के जीर्णोद्धार के लिए भी खर्च करने में संकोच किया जाता हो वहाँ यही देवद्रव्य साधन है या साध्य इसका विचार वाचकवृन्द स्वयं ही कर सकते हैं ।



बोलियों और इसी प्रकार के कई अन्य साधनों द्वारा देवद्रव्य की वृद्धि करके नये-नये भवनों का निर्माण करना, सुवर्ण-चाँदी के व्यापार करना, मीलों में रुपये देना, सहस्रों के व्यय से बड़ी-बड़ी पेड़ियाँ चलाना और कोर्टों में केस लड़कर हजारों बल्कि लाखों रुपये वकीलों को खिलाया जाता है। परन्तु उपर्युक्त कथनानुसार हजारों मन्दिरों के जीर्णोद्धार की तरफ किसी का ध्यान भी नहीं जाता है। यह देवद्रव्य की वृद्धि का दुरुपयोग नहीं तो और क्या है? देवद्रव्योपरि असाधारण मोह नहीं तो और क्या है? मैं एक बार कह चुका हूँ कि देवद्रव्य की वृद्धि देवमन्दिरों और जिनमूर्तियों की साधन - सामग्री हेतु होनी चाहिये किन्तु यदि उस हेतु के लिये न हो तो फिर उस वृद्धि का प्रयोजन ही क्या है? वृद्धि भी उचित रीति से होनी चाहिये, भगवान के आदेशानुसार ही होनी चाहिये। देवद्रव्य की वृद्धि हेतु इस पत्रिका में बताये अनुसार शास्त्रकारों ने तीर्थङ्करत्व के फल को दर्शाया है किन्तु जिनाज्ञा-रहित - मोहयुक्त रीति से देवद्रव्य की वृद्धि का शास्त्र-कार भी स्पष्टतः मना करते हैं अपितु आज्ञाहित वृद्धि-कारक को भवसमुद्र में डूबने वाला भी बताया गया है। देखिए 'आत्मप्रबोध' ग्रन्थ के पृष्ठ ७१ पर कहा है—

“जिणवरआणारहिअं, वद्धारंतावि केवि जिणदव्वं ।

बुड्ढंति भवसमुद्दे मूढा मोहेण अन्नाणी ॥१॥”

अर्थात्—जिनेश्वर की आज्ञा रहित जो देवद्रव्य की वृद्धि भी करते हैं वे मूढ-अज्ञानी मोह से भवसमुद्र में डूबते हैं। इसी प्रकार ‘सम्बोधसप्तति’ ग्रन्थ के पृष्ठ ५१ में, ‘सम्बोधप्रकरण’ के पृष्ठ ४ में और ‘धर्मसंग्रह’ के पृष्ठ १६७ में तथा अन्यान्य अनेक धर्मग्रन्थों में भी उल्लेख है।

यह बात सत्य भी है कि यदि देवद्रव्य की वृद्धि केवल परमात्मभक्ति निमित्त ही करना चाहते हैं तो उस वृद्धि में ममत्व या मोह होना ही नहीं चाहिये। जिस वृद्धि में या वृद्धि के कारण में मोह और ममत्व भरा हुआ हो, उसे वृद्धि का समुचित कारण कैसे कह सकते हैं? शास्त्रकारों ने इतना ही कहकर विराम नहीं लिया है, किन्तु इस प्रकार के अनेक कार्यों का भी उल्लेख किया है कि जिस मार्ग से देवद्रव्य की वृद्धि भगवान की आज्ञाविरुद्ध है। देखिए—‘सम्बोधसप्तति’ ग्रन्थ की ६६वीं गाथा की टीका में कितना सुन्दर उल्लेख किया गया है—

“आज्ञारहितं वर्धनं चैवम्-यथा श्रावकेण देव स्ववृद्धये कल्पपालमत्स्यबन्धकवेश्याचर्मकारादीनां कलान्तरादिदानम्। तथा देववित्तेन वा भाटकादिहेतुकदेव-

द्रव्यवृद्धये यद्देवनिमित्तं स्थावरादिनिष्पादनम् । तथा  
 महार्घाऽनेहसि विक्रयेण बहुदेवद्रविणोत्पादनाय गृहिणा  
 यद्देवधनेन समर्घधान्यसंग्रहणम् । तथा देवहेतवे कूपवा-  
 टिकाक्षेत्रादिविधानम् ।' तथा शुल्कशालादिषु  
 भाण्डमुद्दिश्य राजग्राह्यभागाधिककरोत्पादनादुत्पन्नेन  
 द्रव्येण जिनद्रविणवृद्धिनयनं जिनवराज्ञारहितम् ॥  
 (पृष्ठ ५२)

अर्थात्-अज्ञाविरुद्ध देवद्रव्य की वृद्धि इस प्रकार  
 की है- जैसे देवद्रव्य की वृद्धि हेतु श्रावक द्वारा कलाल  
 मच्छीमार, वेश्या और चमार वगैरह को अधिक कीमती  
 वस्तुके बदले में व्याज पर उधार देना तथा देवद्रव्य द्वारा  
 देवनिमित्त मकान बनवाकर देवद्रव्य वृद्धि हेतु किराये  
 पर देना तथा मँहगाई के समय अधिक मूल्य पर बेचने  
 के लिए देवद्रव्य द्वारा सस्ते धान्य को खरीदकर रखना  
 तथा देवनिमित्त कूप, वापिका, खेत आदि के कार्य  
 करवाने और राजा द्वारा निर्धारित कर में वृद्धि करवा-  
 कर देवद्रव्य में वृद्धि करना, ये सब विधियाँ जिनाज्ञा-  
 विरुद्ध हैं ।

ये और ऐसे ही अन्य कार्यों को शास्त्रकार जिनाज्ञा-  
 विरुद्ध बताते हैं । तब हम समझ सकते हैं कि देवद्रव्य-  
 वृद्धि हेतु वर्तमान में किस प्रकार की धमाधम और

प्रवृत्ति चल रही है, उनमें से अनेक रिवाज, शास्त्रविरोध ही है तथा देवद्रव्य की वृद्ध्यर्थ ऐसे अनुचित व्यवहार क्यों-करते हैं। यह समझ में नहीं आता, जिन व्यवहारों के लिए गृहस्थों को भी निषेध किया जाता है और न करने के लिए ही पुनः-पुनः उपदेश भी दिया जाता है उन्हीं व्यवहारों को यदि देवद्रव्य की वृद्धि हेतु प्रयोग में लाया जाय तो कैसी विचित्र प्रवृत्ति ?

ऐसी प्रवृत्तियों से- ऐसे मार्गों से होने वाली देवद्रव्य की वृद्धि अविधिपूर्वक ही कही जायेगी और अविधि से की गई देवद्रव्य की वृद्धि का शास्त्रकार निषेध करते हैं। 'द्रव्यसप्तति' ग्रन्थ के द्वाँ श्लोक की टीका में कहा गया है कि-

“अविधिना च विहिता कालान्तरे समूलं चैत्यादि-द्रव्यं विनाशयति । यतः—

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दश वर्षाणि तिष्ठति ।

प्राप्ते च षोडशे वर्षे समूलं च विनश्यति” ॥१॥

अर्थात्-अविधि से की गई वृद्धि, कालान्तर में समूल देवादिद्रव्य का नाश करती है क्योंकि अन्यायसे उत्पन्न किया हुआ द्रव्य दश वर्ष तक रहता है और सोलवें वर्ष तो मूल सहित उसका नाश हो जाता है ।

महानुभावों-! थोड़ा सा उपयुक्त पाठ पर ध्यान

केन्द्रित करो । यदि एक मन्दिर सौ वर्ष पूर्व बना हो तो उस मन्दिर में सदैव बढ़ते हुए देवद्रव्य को अब तक कितना होना चाहिए ? फिर भी किसी ने सौ वर्षों के हिसाब को स्पष्टतया देखा भी है क्या ? सैकड़ों वर्षों से चल रही बड़ी-बड़ी पेढियों के पुराने हिसाब को किसी ने देखा है क्या ? मूल रकम कितनी थी और अब तक उसकी क्या-क्या व्यवस्थाएँ हुई, इस बात का किसी को ज्ञान है ? ऐसी स्थिति में लोग यदि इस प्रकार की कल्पना करते हैं कि 'अविधि से की गई देवद्रव्य की वृद्धि के ये परिणाम आये हैं' तो इसमें बुरा क्या है ? सुना गया है कि अहमदाबाद से लेकर बम्बई तक देवद्रव्य से लगभग ६० लाख का उधार लिया गया है । अब विचार करें कि उस ६० लाख के ५० लाख न मिलते हो तो ४० लाख रुपयों का नाश हुआ माना जायेगा या नहीं ? यदि हुआ तो उसे अविधि से उत्पन्न किये हुए द्रव्य का परिणाम कहें तो क्या बुरा है ? अतएव पुनः-पुनः कहा जाता है कि देवद्रव्य की वृद्धि भी विधिपूर्वक मोह-ममत्व रहित और द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को देखकर ही करनी चाहिए । शास्त्रकार भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को देखकर ही कार्य करने के लिए कहते हैं । देखिए 'द्रव्यसप्तति' ग्रंथ के षठीं गाथा की टीका में आगे टीकाकार क्या कह रहे हैं ?

“यतो लोकेऽपि कृषिवाणिज्यसेवाभोजनशयनासन-  
विद्यासाधनगमनं वंदनादिकं च द्रव्य-क्षेत्र-कालादि-  
विधिना विहितं पूर्णफलवत्, नान्यथा ।”

अर्थात्—लोक में भी कृषि, व्यापार, नौकरी, भोजन,  
शयन, आसन, विद्यासाधन, गमन और वंदनादि द्रव्य-  
क्षेत्र-काल वगैरह विधि के अनुसार किये गये कार्य ही  
सम्पूर्ण फलदायी होते हैं, अन्यथा नहीं ।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि शास्त्रकार प्रत्येक  
कार्य में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव पर ध्यान देने की सूचना  
करते हैं । शास्त्रों में ऐसे अनेक दृष्टान्त भी मिलते हैं  
कि महापुरुषों को भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावानुसार  
अपनी प्रवृत्तियों में परिवर्तन करना पड़ता है । गौतम  
स्वामी और केशीगणधर जब मिले, तब चार और पाँच  
महाव्रतों के सम्बन्ध में विचार-विमर्श हुआ । उस समय  
केशीगणधर पार्श्वनाथ भगवान की परम्परा के होने से  
चार महाव्रतों के धारण करने वाले होने पर भी द्रव्य-  
क्षेत्र-कालानुसार पाँच महाव्रत वगैरह का अर्थात्  
पञ्चरंगी कपड़ों के बदले में सफेद वस्त्र, दो प्रतिक्रमणों  
के बदले में पञ्चप्रतिक्रमण आदि स्वीकार  
किए थे और यह भी सत्य है कि समय-समय  
की क्रिया समय-समय पर होने पर ही शोभास्पद

लगती है ।

राम का नाम उत्तम है किन्तु विवाह-प्रसंग पर पाँच पच्चीस मनुष्य यदि 'राम बोलो भाई राम' 'राम बोलो भाई राम' बोलते हुए लगनवाले के यहाँ पहुँच जाएँ तो उनकी बुद्धि की कीमत लोग कैसी करेंगे ? अतएव समझना चाहिए कि प्रत्येक कार्य में-फिर वह चाहे व्यावहारिक कार्य हो या धार्मिक, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के ऊपर अवश्य ध्यान देना चाहिए और इस प्रकार ध्यानपूर्वक जो कार्य करते हैं वे ही संसार में प्रशंसा के पात्र बनते हैं । इतना ही नहीं अपितु स्वोन्नति भी कर सकते हैं । अमुक समय पर अमुक क्रिया हुई थी, अतः हमें भी उस क्रिया को वैसे ही करना चाहिये, ऐसा सोचना सर्वथा अज्ञानता है ।

**सारांश**—सम्पूर्ण लेख का सारांश यही है कि देव-द्रव्य की आवश्यकता अवश्य है । मन्दिरों और मूर्तियों की रक्षार्थ देवद्रव्य की वृद्धि करनी भी चाहिये, किन्तु देवद्रव्य की वृद्धि शास्त्रानुसार विधिपूर्वक ही करनी चाहिए । अविधि से की गई वृद्धि समूल देवद्रव्य का नाश करती है । इतना ही नहीं परन्तु आत्मप्रबोध, संबोधसप्तति, संबोधप्रकरण और धर्मसंग्रह वगैरह ग्रंथों के कथनानुसार जिनाज्ञाविरुद्ध अविधिपूर्वक

देवद्रव्यवृद्धिकर्ता संसारसागर में डूबता है ।

आखिर-उपयुक्त सकलवृत्तान्त को ध्यान में रख कर ही देवद्रव्य की वृद्धि करना उपयुक्त है । पूजा-आरती वगैरह की बोलियों का द्रव्य साधारण खाते में ले जाने में किञ्चित् भी शास्त्रीय रुकावट नहीं है । इस सम्बन्ध में भी पूर्णतया विचार करना चाहिये । इतना कहकर विराम लेता हूँ । देवद्रव्य सम्बन्धी विशेष जानकारी के लिए तत्पश्चात् निकलने वाली मेरी चतुर्थ पत्रिका को पठनार्थ वाचकवर्ग उत्कण्ठित रहें ।



## पत्रिका नं०४

### उपसंहार

अब तक तीन पत्रिकाओं द्वारा मैंने, "देवद्रव्य सम्बंधी अपने विचार" बताये हैं। अब इस विषय का उपसंहार करूँगा। मैंने अपनी पत्रिकाओं में 'देवद्रव्य' किसे कहते हैं और देवद्रव्य की वृद्धि, इसका उपाय और उसके व्यय से सम्बन्धित छोटे - बड़े जितने प्रश्न स्वबुद्धि से उत्पन्न हो सकते थे, उन सबका समाधान शास्त्रीय एवं व्यावहारिक दृष्टि से किया है। मेरी पत्रिकाओं को तटस्थ दृष्टि से पढ़ने वाला कोई भी पाठक जान सकेगा कि मैंने अपने विचारों में सम्पूर्णतया मूर्ति मन्दिर, और देवद्रव्य की आवश्यकता स्वीकार की है। मैंने जैन समाज को यदि किसी प्रकार की विशेष आगाही की है और करता हूँ तो वह यही कि-"पूजा-आरती वगैरह प्रसंगों में बोली बोलने का रिवाज संघ की कल्पना है इसलिए संघ उन बोलियों से एकत्रित द्रव्य अब से साधारण खाते में ले जाने का निर्णय करना चाहे तो कर सकता है, इसमें किसी प्रकार का शास्त्रीय विरोध नहीं है।"

मेरी तो यह सिर्फ सूचना थी, जिस समय मैंने समाज को यह सूचना दी थी, दूसरे शब्दों में जिस समय इससे सम्बन्धित प्रथम लेख मैंने वर्तमान पत्रों में दिया, उस समय मुझे स्वप्न में भी यह कल्पना नहीं थी कि मेरे इन विचारों की तरफ समाज का इतना अधिक ध्यान आकर्षित होगा तथा देवद्रव्य सम्बन्धी अपने विचारों को स्पष्ट करने के लिए अनेक पत्रिकायें मुझे निकालनी पड़ेगी। मनुष्य विचार कुछ करता है और होता कुछ और ही है। परिणामतः मेरे लेखों की तरफ अनेक महात्माओं का ध्यान आकर्षित हुआ। किसी भी कारण से एक महात्मा श्री ने बिना प्रमाण के ही मुझे अपने विचारों को वापस लेने की सूचना की, किन्तु मैं अपने विचारों पर दृढ़ रहा और निश्चय किया कि जब तक शास्त्रीय प्रमाणों से मेरे विचारों को असत्य प्रमाणित नहीं कर दिया जाता, तब तक मैं अपने विचारों में परिवर्तन करने का कोई कारण नहीं देखता। इस प्रकार दृढ़ता पूर्वक मुझे अपने विचारों को प्रकाशित करना पड़ा। दूसरी ओर मेरी पत्रिका की सहस्र-प्रतियों जैन समाज में वितरित की गईं और मुझे जब ऐसा ज्ञात हुआ कि अब भी समाज, इस विषय के बारे में अधिकाधिक जिज्ञासावृत्ति रखता है तब मैंने “देवद्रव्य संबंधी अपने विचारों” की अन्य दो पत्रिकाएँ, शास्त्रीय प्रबल प्रमाणों

एवं समय-समय पर घटित ऐतिहासिक दृष्टान्तों को देकर प्रकाशित की।

मैं जब यह उपसंहार लिख रहा हूँ, तब तक मेरे विचारों को असत्य सिद्ध करने वाला एक भी समुचितप्रमाण नहीं दिया गया। जो सिर्फ 'श्राद्धविधि' का प्रमाण (?) देकर अपनी बात को सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं, उसका वे अर्थ ही गलत कर रहे हैं। यह बात मैंने अपनी दूसरी पत्रिका में तथा प्रवर्तक श्री मंगलविजयजी ने "बोली बोलने का विधान श्राद्धविधि में है या नहीं?" इस नामकी अपनी पत्रिका में अच्छी तरह से बताया है। इससे समाज समझ गया होगा कि 'श्राद्धविधि' के "द्रव्योत्सर्पणपूर्वकारात्रिकविधानादिना" इस पाठ में आये हुए 'उत्सर्पण' शब्द का अर्थ 'बोली बोलनी' ऐसा अर्थ कदापि नहीं हो सकता। हमें अत्यधिक आश्चर्य होता है कि जो महात्मा श्री, बोली बोलने का विधान अनेक धर्मग्रन्थों में होने की उद्घोषणा करते थे और जिन्होंने अनेक ग्रन्थों के नाम भी दिये हैं वे सिर्फ अके मात्र 'श्राद्धविधि' के अके पाठ में आये हुए 'उत्सर्पण' शब्द से ही ( वह भी गलत अर्थ करके ) स्वपक्ष की प्रबलता समझकर अन्य ग्रन्थों पर दृष्टिपात भी नहीं करते हैं। हमारे प्राचीन भण्डारों में ४५ आगम और हजारों बल्कि लाखों ग्रन्थ मौजूद होने पर भी

बोली बोलने के विधान हेतु सिर्फ 'श्राद्धविधि' में आये 'उत्सर्पण' शब्द को ही ( वह भी गलत अर्थ करके ) पर्याप्त समझ लेना सशोक आश्चर्य की बात है। यदि तत्संबंधी विधान किसी भी ग्रन्थ में नहीं था तो फिर अनेक ग्रन्थों का उल्लेख करनेका प्रयोजन क्या था? अस्तु।

बोली, कोई गलत बात नहीं है क्योंकि यह तो क्लेश-निवारणार्थ संघ द्वारा बनाया गया रिवाज है, परन्तु 'चारित्र' जो कि मोक्षप्राप्ति के साधनों में एक मुख्य साधन है, उसमें भी परिवर्तन हुआ है देखिए—

सम्यक्चारित्र के दो भेद हैं—आभ्यन्तर चारित्र और बाह्यचारित्र। जिसमें शुद्धोपयोग, शुद्धभावना और शुद्ध ध्यान हो, इस प्रकार आत्मा की स्थिति को आभ्यन्तर चारित्र कहा जाता है और आचार-अनुष्ठानादि क्रिया बाह्यचारित्र है। इन दोनों में से आभ्यन्तर चारित्र सदैव व्यवस्थित रहता है क्योंकि आत्मा की शुद्ध परिणति आभ्यन्तर चारित्र का लक्षण है वह अपने स्वरूप में तीनों कालों में निश्चित रहता है किन्तु बाह्यचारित्र तीनों कालों में निश्चितरूप से नहीं रहता है, क्योंकि आचार-अनुष्ठानादि बाह्यक्रिया रूप है, इसी कारण उसमें परिवर्तन देखते हैं।

देखिये, प्रतिक्रमण जो प्रतिदिन की आवश्यकक्रिया

है, उसमें भी कितना अधिक परिवर्तन हुआ है ? क्या कोई कह सकता है कि हमारे 'प्रतिक्रमण' जैसे भगवान महावीर स्वामी के समय में होते थे वैसे ही (बिना परिवर्तन के) अब भी होते हैं ? नहीं । प्रतिक्रमण में बोले जाने वाले सूत्रों को ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन करने वाले स्पष्टतया कहेंगे कि "सकलार्हत्, स्नातस्या, लघुशान्ति, अजितशान्ति, संसारदावा, सतिकरं, बृहच्छान्ति, वगैरह तथा चैत्यवन्दन एवं स्तुतिस्तोत्रादि वार्तमानिक प्रतिक्रमणों में बोले जाते हैं वे उनके रचनाकार महात्माओं के पूर्व प्रतिक्रमणों में नहीं थे ।" 'सकलार्हत्' के रचयिता कुमारपालभूपालप्रतिबोधक आ० श्री हेमचन्द्र सूरि हैं । वे १२वीं शताब्दि में हुए हैं । अतः कहना पड़ेगा कि प्रतिक्रमण में अब जो सकलार्हत् बोला जाता है वह श्री हेमचन्द्राचार्य की उपस्थिति में अथवा उनके बाद प्रतिक्रमण में बोलना प्रारम्भ हुआ है 'स्नातस्या' की स्तुति के कर्त्ता श्री हेमचन्द्राचार्य के शिष्य बालचन्द्र है अतः इसका प्रारम्भ बाद में हुआ है । 'संसारदावा' की स्तुति के कर्त्ता श्रीहरिभद्रसूरि महाराज है अतएव स्पष्ट है कि संसारदावा की स्तुति श्री हरिभद्रसूरि महाराज के समय में अथवा उनके पश्चात् प्रतिक्रमण में बोलनी प्रारम्भ हुई । इसी प्रकार लघुशान्ति, बृहच्छान्ति, वगैरह के लिये भी समझ लेना चाहिये । इससे क्या सूचित होता

है ? परिवर्तन या अन्य कुछ ? थोड़ी गहराई से देखिए— साधुओं और श्रावकों के अतिचार प्राचीनकाल में क्या गुजरातीमें बोले जाते थे? नहीं, किन्तु अब गुजराती में बोले जाते हैं। यह परिवर्तन है या कुछ और ? धीरे - धीरे आवश्यकता महसूस होने पर, लोगों के दिमाग में विचार आने पर वे ही अतिचार हिन्दी भाषा में भी परिवर्तन पा गये। अधिक क्या कहा जाय ? प्रतिक्रमण जैसी आवश्यक क्रिया में भी इतना अधिक परिवर्तन हम साक्षात् देख रहे हैं और इतिहास भी इसके लिए साक्षीभूत है। तो फिर दूसरी क्रियाओं के लिये तो कहना ही क्या ? अब कौन कह सकता है कि बाह्यक्रियाओं में परिवर्तन हो ही नहीं सकता ? शास्त्रीय क्रियाओं में परिवर्तन हो ही नहीं सकता ? जब शास्त्रीय क्रियाओं की ऐसी स्थिति है तब बोली जैसा रिवाज, जो कि शास्त्रीय विधान भो नहीं है बल्कि संघ द्वारा कल्पित विचार (रिवाज) है, उसमें संघ समयानुसार परिवर्तन कर क्यों नहीं सकता ? ऐसा करने का अधिकारी यदि संघ हो तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

महानुभावों ? देखिए तो सही। भाद्रपद सुदि पंचमी की संवत्सरी को श्री कालिकाचार्य महाराज ने चतुर्थी को प्रारंभ किया। यह क्या साधारण परिवर्तन है ? सांवत्सरिक प्रतिक्रमण जो सम्पूर्णवर्ष के धार्मिककृत्यों में

सर्वश्रेष्ठधार्मिक कृत्य है उसदिन में परिवर्तन करना कितना गंभीर कार्य कहा जायेगा ? फिर भी परिवर्तन हुआ और सभी ने मान्य किया, इसका क्या अर्थ ?

ऐसी तो अनेक बातें हैं जिनमें परिवर्तन हुआ है और उनका हम अनुभव भी करते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन सम्बन्धी अनेक उदाहरण भी मैंने अपनी पत्रिकाओं में स्थान - स्थान पर दिये हैं।

बोली के रिवाज में भी अनेक स्थानों पर हुए परिवर्तनों को बता चुका हूँ। फिर भी 'परिवर्तन नहीं हो सकता है,' 'परिवर्तन नहीं हो सकता है,' साधारण खाते में नहीं ले जा सकते हैं।' इस प्रकार बोलते हुए सिर धुनते ही रहने का क्या मतलब ? जिस कार्य के करने में किञ्चित् भी शास्त्रीय रुकावट नहीं है और भविष्य में जैन समाज की उन्नति निहित है। उस कार्य का निषेध बिना प्रमाणों के ही करना, जान बुझकर समाज को उन्मार्ग पर ले जाने के तुल्य नहीं है क्या ?

सत्य बात तो यह है कि 'देवद्रव्य' का यथार्थ लक्षण और यथार्थ स्वरूप यदि समझ में आ जाँएँ तो इस विषय में विवाद का कोई कारण ही नहीं रहता। मैं अपनी तृतीय पत्रिका में 'द्रव्यसप्तति' की दूसरी गाथा देकर देवद्रव्य का लक्षण बता चुका हूँ। 'देव को समर्पण

बुद्धि से अर्पित बस्तुएँ ही देवद्रव्य है' यह लक्षण यदि माना जाएँ तो फिर पूजा - आरती वगैरह में बोली गई बोली की आमदनी किसी भी खाते में ले जा सकते हैं । जो द्रव्य अभी तक देव को समर्पण हुआ नहीं, जिस द्रव्य के लिये किसी प्रकार का निश्चय हुआ नहीं है, उस द्रव्य को किसी भी खाते में ले जाने का संघ क्या प्रस्ताव पारित नहीं कर सकता है ? बोली का हेतु तो सिर्फ क्लेशनिवारणार्थ है उसका देवद्रव्य से क्या सम्बन्ध ? इस प्रकार के परंपरागत द्रव्य की, जिस समयमें, जिस क्षेत्र को अत्यधिक आवश्यकता हो अर्थात् जिस क्षेत्र को अधिक पोषण की आवश्यकता हो, उस समय में, उस क्षेत्र में, उस द्रव्य को ले जाने का संघ निश्चय करता है और इस प्रकार विचार पूर्वक कार्य करने में ही संघ का संघत्व समाहित है ।

वर्तमानकाल में साधारण खाते को पुष्ट करना अत्यावश्यक है। इस बात का हम अनेक बार अनुभव भी कर चुके हैं इसलिए अब से बोली के द्रव्य को साधारण खाते में ले जाने का निर्णय, प्रत्येक ग्राम - नगर के संघ को कर लेना आवश्यक है । साथ-साथ जो द्रव्य भंडारों में भरा पड़ा है उसका व्यय प्राचीन मन्दिरों के जीर्णोद्धार में करते रहना चाहिये । यह तो हम अच्छी तरह से जानते ही हैं कि देवद्रव्य के नाम से एकत्रित द्रव्य



का उपयोग सिर्फ मन्दिरों और मूर्तियों के लिये ही हो सकता है जबकि साधारण खाते के द्रव्य का संघ यथोचित रूप से सातों ही क्षेत्रों में उपयोग कर सकता है (इससे पूर्व प्रकाशित 'सप्तक्षेत्रीयनाटक' पुस्तक के पढ़ने से सातों क्षेत्रों का ज्ञान हो जायेगा-लेखक-मुनि प्रवीणविजय) ।

अर्थात् - साधारण खाते के द्रव्य का जिस प्रकार अन्य कार्यों में उपयोग हो सकता है उसी प्रकार चैत्य-(मन्दिर) संबंधी कार्यों में भी व्यय हो सकता है तो फिर बोली के द्रव्य को अब से साधारण खाते में ले जाने का निर्णय क्यों न किया जाय ? और यह तो अनेक बार कहा जा चुका है कि बोली के साथ देवद्रव्य का कुछ भी संबंध नहीं है क्योंकि बोली का रिवाज सिर्फ क्लेश-निवारणार्थ ही है, अतः उस द्रव्य को किसी भी खाते में ले जाने का संघ अधिकारी है ।

इस प्रकार साधारण खाते को पुष्ट करने से सातों ही क्षेत्रों की पुष्टि अनायास ही हो जायेगी । यहाँ कोई ऐसा न समझ ले कि साधारण-खाते में विशेष द्रव्य एकत्रित हो जाने पर लोग खा जायेंगे । इसका कारण तो मैंने अपनी दूसरी पत्रिका में बता दिया है कि साधारण द्रव्य भी देवद्रव्य जितना ही महत्वपूर्ण है । जैसे देवद्रव्य के भक्षण से पाप लगता है वैसे ही साधारण द्रव्य के

भक्षण से भी पाप लगता है । हाँ, यदि किसी गरीब-निराधार-अशक्त जैन को श्री संघ साधारण खाते में से दे तो वह उसका उपयोग कर सकता है । देवद्रव्य और साधारण द्रव्य में सिर्फ इतना ही अन्तर है कि देवद्रव्य का केवल मन्दिर और मूर्ति संबन्धित कार्यों में ही उपयोग कर सकते हैं, जबकि साधारण द्रव्य को संघ सप्तक्षेत्रों में उचित रूप से व्यय कर सकता है । इस प्रकार जो सातों क्षेत्रों का आधार भूत है, ऐसे साधारण खाते को विशेष रूप से पुष्ट करने की आवश्यकता है और यह बात सब को स्वीकार करनी ही पड़ेगी । अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि साधारण खाते को किस प्रकार पुष्ट करना चाहिये ? इस संबंध में कई व्यक्तियों की ऐसी सलाह है साधारण खाते को पुष्ट करने के लिए सभी जैनों पर किसी प्रकार का टेक्स लगाना चाहिये किन्तु इस प्रकार के सलाहाकारों को जैनों की परिस्थिति का सर्वप्रथम विचार करना चाहिये । जैनों में व्याप्त गरीबी, दुष्काल पर दुष्काल, बढ़ती-हुई मँहगाई और सरकार के कितने ही टेक्स आदि नाना कष्टों में पड़े हुए जैन समाज पर धर्म के नाम पर यदि टेक्स लगाया गया तो मरते हुए को लात लगाने ( मारने ) के समान नहीं हो जायेगा क्या ? अरे ! कोन्फरन्स जैसी संस्था में चार-चार आने देने में भी लोग कितना विचार

करते रहे हैं, यह क्या किसी से अज्ञात है ? अनेक गाँवों और नगरों में साधारण और केशर चंदन हेतु २, १, या आधे रूपये का टेक्स होता है, परन्तु उसे भी देना लोगों को भारस्वरूप महसूस होता है अर्थात् इस प्रकार का सामान्य कर भी प्रत्येक के पास से लेना दुःसाध्य कार्य होता है तब फिर इस प्रकार अन्य अन्य टेक्सों से क्या लाभ ?

अतएव इसके लिये सर्वोत्तम और सरल उपाय यही है कि जितनी बोलियाँ बोली जाती हैं उन सबकी आमदनी को (पैसे को) साधारण खाते में ले जाने का संघ को निर्णय कर लेना चाहिये । जिससे किसी के ऊपर किसी प्रकार का भार भी न पड़े और संघ का कार्य भी अनायास में ही सिद्ध हो जाएँ । ऐसा करने में किसी प्रकार की शास्त्रीय रूकावट भी नहीं है । मुझे लगता है कि यदि इस प्रकार की योजना को कार्यान्वित कर दिया जाय तो जैन-समाज जिन रोगों से पीडित है, उन सभी रोगों से अल्प समय में ही मुक्त हो सकता है । परिणामतः जैन समाज सम्पूर्ण विश्व में भगवान् महावीर के अकाट्य सिद्धान्तों का प्रचार कर सकता है ।

महानुभावों ! इस सुअवसर की प्राप्ति हेतु उत्साहित होइए । ईर्ष्या और वैर भाव को छोड़कर तटस्थ

बुद्धि से शास्त्रों के रहस्यों का अनुशीलन कीजिए । समय के ज्ञाता बनिए । जैसे समय-समय पर द्रव्य - क्षेत्र काल और भाव को ध्यान में रखकर समाज के रीति-रिवाजों में परिवर्तन होता ही रहा है वैसे ही वर्तमान समय में भी सामाजिक सुव्यवस्था हेतु कुछ वर्षों से चले आ रहे अनेक रिवाजों में परिवर्तन करना आवश्यक है । स्पष्टतया मुझे कहना चाहिये कि आरती-पूजा वगैरह की बोली की जो आमदनी होती है वह देवद्रव्य में जाये या साधारण खाते में इसके साथ मेरा किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं है परन्तु जैन समाज की दिन-प्रतिदिन बढ़ी हुई विषमावस्था को देखकर ही मैंने यह प्रश्न उपस्थित किया है । इसके साथ-साथ यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि मैं केवल शास्त्रनिरपेक्ष बुद्धिवाद के व्यापार का पक्षपाती नहीं हूँ । किसी प्रकार के विचारार्थ शास्त्रीयदृष्टि को सर्वप्रथम आगे करने की आवश्यकता है । शास्त्ररूपी दीपक लिये बिना ही तर्करूपी वन में विचरण करना, मैं उचित नहीं मानता हूँ किन्तु शास्त्रों के अवलोकन में यदि थोड़ा सा भी प्रमाद हो जाय तो अर्थ का अनर्थ होना संभव है । यह हमेशा स्मरणीय है ।

प्रस्तुत देवद्रव्य सम्बन्धी मेरे विचार शास्त्राज्ञा से किञ्चित् भी विरुद्ध है क्या ? मुझे पूर्ण विश्वास है कि

बोली के द्रव्य को साधारण खाते में ले जाने के बारे में मैंने जो विचार समाज के समक्ष प्रस्तुत किये हैं, उनमें मैंने कहीं पर भी भूल नहीं की है फिर भी यदि कोई शास्त्रीय प्रमाणों से मेरे विचारों को असत्य प्रमाणित कर दे, तो अब भी मैं अपने विचारों में परिवर्तन करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करूँगा ।

सज्जनों ! मैं क्या कह रहा हूँ उस पर विचार करें । मुझे उन महानुभावों पर अत्यन्त भावदया उत्पन्न होती है जो “मैं देवद्रव्य को उड़ा देना चाहता हूँ”, “देवद्रव्य दूसरों को खिला देना चाहता हूँ” और “देवद्रव्य की आमदनी को बन्द कर मन्दिरों और मूर्तियों को उत्थापन करना चाहता हूँ ।” इस प्रकार के मुझ पर असद्भूत आक्षेपों को लगाकर दूसरों के मनमें मेरे प्रति-असद्भावना उत्पन्न करना चाहते हैं परन्तु मेरी पत्रिकाओं को जिन्होंने ध्यानपूर्वक पढ़ी होगी, उन्हें पूर्णतया विश्वास हो गया होगा कि देवद्रव्य का मैं एकदम पक्षपाती हूँ और देवद्रव्य के धिक्कारकर्ताओं का कट्टर विरोधी हूँ । इतना ही नहीं, परन्तु देवद्रव्य की समुचित रूप से वृद्धि का भी पूर्णतया हिमायती हूँ ।

इस सम्बन्ध में मैंने अपनी तृतीय पत्रिका में बहुत-बहुत विवेचन कर दिया है। उत्तमोत्तम वस्तुओं को भण्डार

में डालने का तथा, ग्राम, किरायादि के समुचित व्याज वगैरह द्वारा देवद्रव्य की वृद्धि का मैंने निषेध किया ही नहीं है और इक्कीस प्रकार की पूजाओं में जो अन्तिम पूजा है वह 'कोशवृद्धि' के लिए कहीं गई है। उससे भी देवद्रव्य की वृद्धि की जा सकती है, परन्तु "जिनाज्ञाविरुद्ध जो देवद्रव्य की वृद्धि करते हैं वे मूढ़ व्यक्ति मोहग्रस्त होकर भवसमुद्र में डूबते हैं", इस प्रकार के शास्त्रीयवचन से मैं कदापि अलग नहीं हो सकता, और मैं नहीं मानता कि जो शास्त्रीय-मर्यादाओं को मानते हैं, जो भवभ्रमण का भय रखते हैं और जिन्होंने देवद्रव्य सम्बन्धी ग्रन्थों का सम्यक् रूपेण स्थिर-वृद्धि से अवलोकन किया है वे इस बात का अस्वीकार कर सकते हैं। जब ऐसा ही है तो फिर मैंने विशेष क्या कह दिया कि मुझ पर इस प्रकार के आक्षेपों की वर्षा की जा रही है? अैसे आक्षेपों से ही कहाँ 'इति श्री' हो जाती है। मैंने देखा है कि मुझपर आक्रमण करने और आखिर मेरे उपदेश से स्थापित संस्था को समाप्त करने का प्रयत्न भी पूर्णतया किया गया है। विचारभिन्नता से भरपूर संसार में, अपने से विरुद्ध स्वभाव वालों के ऊपर उत्तेजित हो जाना, कषायकलुषितयुक्त पेम्पलेट निकालना और येन-केन प्रकारेण सामने वाले को दबाने का प्रयत्न करना, यह सर्वथा निर्बलता नहीं तो और

क्या है ? और साथ - साथ भिन्नविचार वालों के साथ शास्त्रार्थ करके अथवा शास्त्रीय प्रबल प्रमाणों से उनके विचारों को असत्य सिद्ध किये बिना ही 'उत्सूत्रभाषी' और 'निह्वव' का कलंक देना, यह सिर्फ बालचेष्टा नहीं तो और क्या है ? मैं तो अब भी उद्घोषणापूर्वक कहता हूँ कि जब तक शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा मेरे विचारों को असत्य सिद्ध नहीं किया जाता तब तक मैं अपने विचारों का लेखों और उपदेश द्वारा प्रतिपादन करता ही रहूँगा, क्योंकि जानते हुए भी सत्य बात को छिपाना, मैं पाप समझता हूँ। सत्य बात को प्रकट करने में किसी भी प्रकार का दाक्षिण्यभाव, शर्म या संकोच रखना अनुचित है। अतः लोग मेरे विचारों को माने या न माने, इसकी परवाह किये बिना, मैं अपने विचारों को जनता के समक्ष रखना, अपना कर्तव्य समझता हूँ। इस प्रकार के कार्य में उमास्वाति महाराज के सुभाषिता - नुसार कल्याण ही मानता हूँ -

“न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात् ।  
बुद्धतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति ॥”  
अर्थात्—हितकारी वचन श्रवण करने से सभी श्रोताओं को एकान्ततः धर्मलाभ नहीं होता है, किन्तु फिर भी उपकार बुद्धि से बोलने वाले वक्ता को तो निश्चय कल्याणलाभ होता है।

( ६६ )

अन्त में भगवान् हेमचन्द्राचार्य के शब्दों में (दो शब्दों में परिवर्तन करके) अनुरोध करता हुआ विराम लूँगा-

‘गुणेष्वसूयां दधतः परेऽमी

मा शिश्रियन्नाम विचारमेतम् ।

तथापि सम्मील्य विलोचनानि

विचारयन्तां नयवर्त्म सत्यम्” ॥ १ ॥





“बोली बोसने का विधान आधुनिक में है क्या ?”

श्रीमान् आनंद सागर जी द्वारा दिये गये प्रमाण की निर्बलता—

( लेखक-प्रवर्तक श्री मंगल विजय जी )

संसार में विचारभेद का साम्राज्य आज का ही नहीं है अपितु अनादि काल से चला आ रहा है। प्रत्येक व्यक्ति की ऐसी इच्छा तो होती ही है कि मेरे विचारों से सभी सहमत हो और यह इच्छा अस्वाभाविक भी नहीं है। अतएव कोई भी व्यक्ति अपने विचारों के प्रचार हेतु-अपने विचारों की तरफ लोगों को मोड़ने का प्रयत्न करता है तो स्वाभाविक है, परन्तु इतना अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि हृदय की समतोलवृत्ति में आँच नहीं आनी चाहिये।

अभी-अभी २-२॥ महिनों से देवद्रव्य की चर्चा ने मुनिमण्डल में स्थान लिया है। 'देवद्रव्य' वस्तु शास्त्र-सिद्ध है, इसमें तो किसी प्रकार का मतभेद नहीं है, परन्तु देवद्रव्य के स्वरूप निर्णय में विचारभेद पाया जाता है। विचारभेद के प्रकटकर्ता शास्त्रविशारद जैनाचार्य श्री धर्मसूरि महाराज हैं। इन्होंने ही सर्वप्रथम

अपने विचारों को लेख द्वारा प्रस्तुत किया कि “देवद्रव्य वस्तु शास्त्रसिद्ध है, परन्तु देवद्रव्य किसे कहना ? यहीं विचारणीय प्रश्न है। “द्रव्यसप्ततिका” वर्गैरह ग्रन्थों के आधार और अनुभवदृष्टि प्रमाण से, ‘देव को समर्पण किया हुआ द्रव्य ही देवद्रव्य कहलाता है।’ देवद्रव्य का स्वरूप लक्षण इतना ही पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त बोली बोलने की जो रूढ़ि चली आ रही है, उसकी आमदनी का सम्बन्ध किसी निश्चित क्षेत्र के साथ नहीं है। तत्कालीन संयोगों के अनुसार किसी भी क्षेत्र में उस आमदनी का उपयोग किया जा सकता है। इसके लिये वर्तमान समय की परिस्थिति को देखते हुए पूजा, आरती आदि के अवसरों पर बोली जाने वाली बोलियाँ के द्रव्य को साधारण खाते में ले जाना उचित है। इसमें किसी प्रकार का शास्त्रीय दोष प्रतीत नहीं होता है।”

इन विचारों के साथ जब श्री विजयधर्मसूरीश्वरजी बाहर आये, तब उनके विरुद्ध श्रीमान् आनंदसागरजी ने ‘आचार्यों पंन्यासों, गणियों, और मुनियों द्वारा दर्शाया गया देवद्रव्य संबंधी निर्णय’ नामक पेंम्पलेट प्रकाशित कराया। इस लेख द्वारा उन्होंने बताया कि पूजा, आरती की बोली की आमदनी देवद्रव्य में ही ले जानी चाहिये, साधारण खाते में नहीं ले जा सकते हैं।

अब यहाँ इस बात का विचार करना है कि इस 'निर्णय' वाले लेख से यदि उनका अभिप्राय ऐसा हो कि "हमारा यह निश्चय है" तब तो किसी प्रकार का वाद-विवाद नहीं है, क्योंकि "मुण्डे-मुण्डे मतिभिन्नाः" प्रत्येक के विचार या निश्चय समान होना आवश्यक नहीं है। परन्तु यदि जजमेन्ट के रूप में उस निर्णय को उन्होंने प्रकट किया हो, तब तो वास्तव में उनकी यह समझ-बुद्धि उपेक्षणीय है, क्योंकि वे जज किसके द्वारा बनाये गये हैं कि उन्हें जजमेन्ट देने का अधिकार हो सकता है? अभी तो वाद-प्रतिवाद हुआ भी नहीं था, दोनों के विचार चर्चा की श्रेणि पर चढ़े भी नहीं थं, इतने में हो अपनी मिलीभगत वाले साधुमण्डली के साथ जजमेन्ट दे देना इंसानियत के कितना विरुद्ध है?

दूसरी बात यह भी है कि उस 'निर्णय' वाले लेख में किसी प्रकार का शास्त्रीय उल्लेख या युक्ति नहीं है। सिर्फ ग्रन्थों के नाम देकर और भवभ्रमण का भय बताकर पूर्णाहुति कर दी। यह क्या विद्वता कहीं जायेगी? इस प्रकार सिर्फ ग्रन्थों के नाम देने मात्र से विचार निर्णयात्मक हो सकते हैं क्या? उन्हें प्रमाण-युक्ति पुरस्सर बताना चाहिये था कि "पूजा, आरती वगैरह की बोलियों की आमदनी देवद्रव्य के अतिरिक्त

अन्य क्षेत्रों में ले जा ही नहीं सकते हैं”, परन्तु उनसे यह तो बन नहीं सका। तब क्या सिर्फ इस प्रकार के वचन “मैं सच्चा और तू झूठा” कहने से कोई सच्चा या झूठा हो सकता है ?

‘निर्णय’ लेख प्रकट होने के पश्चात् श्री विजय धर्म-सूरिजी महाराज के अनेक लेख एवं पत्र प्रकाशित हुए। उनमें उन्होंने अपने विचारों के प्रतिपादन के साथ यह भी बताया कि यदि मैं शास्त्रीय दृष्टि से भूल करता हूँ और मेरी गलती को कोई प्रमाणपुरस्सर प्रकट करेगा तो गलती को निःसंकोच स्वीकार करूंगा अन्यथा मेरे प्रतिवादो महाशय को अपना प्रतिवाद वापस ले लेना चाहिए। इस प्रकार के अनेक लेख श्री विजय धर्म-सूरिजी महाराज के प्रकट होते रहे, परन्तु आनन्दसागर जी महाराज ने तो उन लेखों का प्रत्युत्तर देने की बजाय मौन ही धारण कर लिया। आखिर जब श्राद्धविधि का पाठ उन्होंने देखा, तब सहर्ष उस पाठ को पेम्पलेट में प्रकट करके, अपने विजय के हाव-भाव बताने लगे। इतना ही नहीं, परन्तु श्री धर्मसूरिजी महाराज को क्षमा माँगने के लिए भी सूचित किया गया। यह पेम्पलेट दिनाङ्क १८-४-२० को प्रकट हुआ और उस लेख का शीर्षक “श्रीमान् धर्म विजय जी को अपनी प्रतिज्ञा

के लिए सावधान" । देखिए कितना अविनय ? विजय धर्मसूरिजी महाराज ने उनका या जैन संघ का क्या अपराध किया है कि उन्हें माफी माँगवाने के लिये वे बाहर आये ? तटस्थदृष्टि से यदि देखा जाय तब तो आनन्दसागर जी महाराज को ही क्षमा माँगनी चाहिए । उन्होंने बिना समझे ही जल्दबाजी-बचपना कर विजय धर्मसूरिजी महाराज के विचारों को असत्य बताया । एक व्यक्ति के विचार को बिना प्रमाण के वैसे ही धिक्कार देना, कानून की दृष्टि में क्या कम अपराध है ? इस प्रकार के गम्भीर अपराधी आनन्दसागर जी महाराज किस प्रकार की शिक्षा के पात्र हैं ( जिन्होंने वयोवृद्ध, संयमवृद्ध, और ज्ञानवृद्ध महात्मा को माफी माँगने के लिये सूचित किया है ) । इस सम्बन्ध में विचार करने का कार्य श्रीसंघ के तटस्थ विचारको को सुपुर्द करता हूँ । श्री आनन्दसागरजी महाराज ऐसा समझते होंगे कि 'श्राद्धविधि' के पाठ का प्रमाण मैंने दिया तो है, परन्तु मुझे आश्चर्य होता है कि उस पाठ पर वे इतने अधिक मोहित क्यों हो रहे हैं ? उस पाठ में ऐसा क्या उन्होंने देख लिया कि प्रस्तुत चर्चा हेतु उन्होंने उस पाठ का सहारा लिया है ।

मुझे स्पष्ट कहना चाहिए कि उस पाठ का उन्होंने गलत अर्थ किया है और वह सरलजनसमुदाय को

भ्रान्ति में डालने वाला है। उस पाठ में बोली बोलने का कहीं नाम ही नहीं है। देखिए, वह पाठ—

“जिनधनस्य-देवद्रव्यस्य वृद्धिर्मालोद्धट्टनेन्द्रमाला-दिपरिधानपरिधापनिकाधौतिकादिमोचनद्रव्योत्सर्पणपूर्व-कारात्रिकविधानादिना।” श्राद्धविधि पृष्ठ १६१, इस पाठ का अर्थ, सागरजी महाराज इस प्रकार करते हैं—

“श्रावकों को देवद्रव्य की वृद्धि हेतु मालोद्वाटन का चढ़ावा, इन्द्रमालादि पहिनने का चढ़ावा तथा पहेरामणी धौतिक वगैरह रखना और द्रव्य की उछामणी पूर्वक आरती आदि के कार्य करने चाहिये।”

अब वाचकवर्ग विचार करेगा कि यह जो अर्थ किया गया है, उसके साथ मूल पाठ का कहाँ तक संबंध है। यहाँ हम मूल पाठ के शब्दों के साथ सागरजी द्वारा किये गये अर्थ का मुकाबला करके देखते हैं—

मूल पाठ के अलग-अलग शब्द और उनका अर्थ—

जिनधनस्य-देवद्रव्यस्य	—	देवद्रव्य को
वृद्धिः	—	वृद्धि
मालोद्धट्टन	—	माला ग्रहण करना
इन्द्रमालादिपरिधान	—	इन्द्रमालादि पहिनना।
परिधापनिका	—	पहेरामणी

धौतकादि	—	धौती आदि
मोचन	—	रखना
द्रव्योत्सर्पण पूर्वक	—	द्रव्य डालने पूर्वक
आरात्रिकविधानादिना—		आरती उतारना आदि द्वारा ।

इस प्रकार प्रस्तुत पाठ के पृथक-पृथक शब्दों के अर्थ हैं ।

इस पर से समग्र पाठ का अर्थ “देवद्रव्य की वृद्धि मालोद्घट्टन, इन्द्रमालादि का पहिनना, पहेरामणी-धौती वगैरह रखना और द्रव्य रखकर आरती आदि उतारना चाहिये ।

इस प्रकार स्पष्टतया तमझ सकते हैं । अब वाचक वर्ग सावधान दृष्टि से देख सकता है कि सागर जी महाराज ने मालोद्घाटन का चढ़ावा, इन्द्रमालादि पहिरने का चढ़ावा, इस प्रकार ‘चढ़ावा’ ‘चढ़ावा’ अर्थ किया है, इस अर्थ के सदृश एक भी शब्द पाठ में है क्या ? बिल्कुल नहीं । ‘चढ़ावा’ अर्थ सूचक भी शब्द जब इस पाठ में नहीं है, तो फिर ‘चढ़ावा’ अर्थ कहाँ से घुसेड़ दिया ? इस प्रकार गलत अर्थ करके असंस्कृतज्ञ लोगों को खुश कर सकते हैं परन्तु संस्कृतज्ञ तो उनकी कीमत अच्छी तरह से कर लेते हैं । इस प्रकार

भ्रान्तिजनक अर्थ करना, उनके जैसे एक साधुपुरुष के लिए अशोभनीय कार्य है ।

उस पाठ के अर्थ में आगे बढ़कर 'उत्सर्पण पूर्वक आरती उतारना' के सम्बन्ध में भी गड़बड़ कर दिया है । सागरजी महाराज "उत्सर्पण पूर्वक आरती उतारना" अर्थात् "बोली बोल कर आरती उतारना" ऐसा अर्थ करते हैं, परन्तु ऐसा अर्थ वे कैसे करते हैं यही समझ में नहीं आता है । स्मरण रखना चाहिये कि हम बोली बोलने के रिवाज के विरुद्ध में नहीं हैं । यह भी जानते हैं कि बोली बोलने की पद्धति आमदनी बढ़ाने का साधन है । इसी कारण हमारा ऐसा मन्तव्य है कि सभी क्षेत्रों को पुष्ट करने वाले साधारण खाले को बोली द्वारा पुष्ट करने का प्रयत्न जैन समाज को करना चाहिए । इस पर भी सत्य के लिए हमें कहना पड़ता है कि बोली बोलने की प्रथा शास्त्रीय विधान नहीं है किन्तु श्री संघ ने आमदनी बढ़ाने के लिये स्व-बुद्धि से इसे कल्पित किया है । हमारी इस मान्यता को श्राद्धविधि के प्रस्तुत पाठ से किञ्चित् भी आँच नहीं आती है । यह सागरजी महाराज को खूब समझना चाहिये, क्योंकि 'उत्सर्पण' शब्द का अर्थ, वे 'बोली बोलना' करते हैं, वह असत्य है और ऐसा अर्थ कहीं



भी नहीं किया गया है तथा हो भी नहीं सकता है। हमें आश्चर्य होता है कि सागरजी व्याकरण, काव्य और शास्त्रों के ज्ञाता होकर भी ऐसा असम्बन्ध अर्थ क्यों करते हैं? यदि वे इस तरफ थोड़ा ध्यान दें कि 'उत्सर्पण' शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ योजना किस प्रकार की है तो मुझे लगता है कि विवाद का प्रश्न ही नहीं रहेगा।

देखिए—

'उत्' उपसर्गपूर्वक 'सृप्' धातु के साथ 'अनट्' प्रत्यय के सहयोग से 'उत्सर्पण' शब्द बना है। सृप् धातु का अर्थ है 'गति' देखिए हैम धातुपाठ-भवादिगण में १६४ वा धातु 'सृप्लृ गतौ', गति अर्थात् गमन करना, जाना, यह स्पष्ट है। 'उत्' उपसर्ग यहाँ पर स्वार्थद्योतक या स्वार्थ-पोषक समझने का है। इससे उत्सर्पण का अर्थ 'जाना' होता है।

परन्तु इतने से प्रस्तुत प्रकरण में अर्थ संगति नहीं होती है अतः उत् सृप् धातु से प्रेरक अर्थ वाला 'णिग्' प्रत्यय लाकर और फिर 'अनट्' प्रत्यय जोड़कर 'उत्सर्पण' शब्द बनाना चाहिये। याद रखना चाहिये कि उत्सर्पण की व्युत्पत्ति दोनों तरह से होती है—सिर्फ उत्सृप् धातु से और प्रेरक अर्थक 'णिग्' प्रत्ययसह-

कृत उत्सृप् धातु से, इन दोनों प्रकारों में से पहले प्रकार का 'उत्सर्पण' शब्द प्रस्तुत प्रकरण में घटित नहीं होता है, अतः दूसरे प्रकार का 'उत्सर्पण' शब्द यहाँ समझना चाहिये। सिर्फ 'उत्सृप्' धातु का अर्थ जब 'जाना' होता है तो उसका प्रेरक अर्थ भेजना, छोड़ना, डालना वगैरह होता है यह तो प्रत्यक्ष है। इससे प्रस्तुत प्रकरण में अर्थ योजना बराबर होती है कि "द्रव्योत्सर्पण पूर्वक" अर्थात् द्रव्य रखकर-डालकर आरती उतारना चाहिये। अब बताइए, इसमें किसी प्रकार की बाधा है? किसी प्रकार की खींचतान है। जब सीधा और सरल अर्थ बैठता है तो फिर 'बोली बोलकर' इस प्रकार के विषम अर्थ को करने की क्या आवश्यकता है? जब सिर्फ उत्सृप् धातु का अर्थ 'जाना' अर्थात् 'द्रव्य का जाना' अर्थ होता है, तब फिर उसका प्रेरक अर्थ 'द्रव्य का डालना' यही हो सकता है यह सुस्पष्ट है। इसमें विवाद की बात ही कहाँ रहती है?

इस प्रकार सुस्पष्ट व्युत्पत्ति से जब 'उत्सर्पण' शब्द का अर्थ 'डालना', 'रखना' होता है, तब इस विषय में अधिक प्रमाणों को खोजने की आवश्यकता नहीं रहती है। इसके अतिरिक्त 'उत्सर्पण' का अर्थ दान, त्याग, अर्पण आदि भी होते हैं। इस संबन्ध के

प्रमाण अनेक स्थानों पर मिलते हैं। 'बाङ्गाला भाषार् अभिधान' नाम का बंगाली शब्द कोष है, उसमें २३६ पृष्ठ पर 'उत्सर्पण' शब्द का 'त्याग' अर्थ भी किया है। यह अर्थ प्रस्तुत प्रकरण में कितना अच्छा घटता है? यह कहने की आवश्यकता ही नहीं रहती है।

श्रीमान् आनन्दसागरजी 'बोली बोलना', ऐसा अर्थ 'उत्सर्पण' शब्द का करते हैं, वह तो बिल्कुल निर्मूल है दृष्टान्तरूप देखिए—

"आसांजलास्फालनतत्पराणां  
मुक्ताफलस्पर्धिषु शीकरेषु ।  
पयोधरोत्सर्पिषु शीर्यमाणः  
संलक्ष्यते न च्छिदुरोऽपि हारः" ॥ ६२ ॥

रघुवंश, सर्ग १६

इस श्लोक के तृतीय पाद में 'उत्सर्पिषु' शब्द आया है, वह 'उत्-सृप्' धातु से बना है, टीकाकार मल्लिनाथ सूरि उसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—'पयोधरेषु स्तनेषु उत्सर्पन्ति, उत्पतन्ति ये तेषु शीकरेषु" ।

देखिए, यहाँ पर 'उत्सृप्' धातु का अर्थ 'उत्पतन' अर्थात् 'उड़ना' या 'उड़कर गिरना', ऐसा अर्थ किया गया है, परन्तु 'बोली बोलना' ऐसा अर्थ नहीं किया है।

तब फिर ऐसे निरालंबन अर्थात् निराधार अर्थ का आग्रह क्यों रखना चाहिये ?

दूसरे महाकाव्य को देखिये ?

“ततः शरच्चन्द्रकराभिरामै—

रुत्सर्पिभिः प्रांशुमिवांशुजालैः ।

द्विभागमानीलरुचं पिशङ्गी-

जंटास्तडित्वन्तमिवाम्बुवाहम्” ॥ १ ॥

किरातार्जुनीय तृतीय सर्ग

इस श्लोक में “उत्सर्पिभिः” शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ टीकाकार ने ‘प्रसारिभिः’ ऐसा किया है। ‘प्रसारिभिः’ अर्थात् प्रसारित होते ‘अंशुजालै’ का विशेषण है अर्थात् प्रसारित होते, ऐसी किरणों के द्वारा ऐसा भावार्थ है। अब देखिए, इसमें भी ‘उत्सृप्’ का अर्थ ‘बोलो बोलना’ या ‘सस्पर्धा चढ़ावे बोलना’ ऐसा अर्थ किया है क्या ? नहीं।

ये तो अन्य धर्मानुयायी विद्वानों के ग्रन्थों के उदाहरण देखे, परन्तु जैनग्रन्थों में भी ‘उत्सर्पण’ का अर्थ श्री सागरजी महाराज के कथनानुसार मिलना असंभव है। स्थाली पुलाक न्याय से उसका भी अवलोकन कर लेते हैं-

“जिनपवयणवुड्ढिकरं पभावगं नाणदंसणगुणाणं ।  
रख्वंतो जिणदव्वं परित्तसंसारिओ होई” ॥

यह 'उपदेश पद' की गथा १७ की वृत्ति में लिखा है कि

“जिनद्रव्ये हि रक्षिते सति तद्विनियोगेन चैत्यकार्येषु  
प्रसभमुत्सर्पत्सु सत्सु भवनो भव्याः समुद्गतोदग्रहर्षा  
निर्वाणावन्ध्यकारणबोधि-बीजादिगुणभाजो भवन्ति”

अर्थात्-देवद्रव्य के रक्षण से चैत्य (मन्दिर) के कार्य  
सुचारुरूपसे सम्पन्न होते हैं और इस कारण भव्यप्राणी  
महान् हर्ष की एवं मोक्ष के प्रबलकारण बोधिबीजादि  
गुणों की प्राप्ति करते हैं ।

देखिये-इसमें 'उत्सर्पत्सु' शब्द का अर्थ क्या है ?  
बोली बोलने का सम्बन्ध यहाँ चरितार्थ होता है क्या ?  
इस पाठ में स्पष्टतया मालुम पड़ता है कि उत्सृप् का  
अर्थ-'प्रफुल्लित होना' विकसित होना 'प्रसारित होना'  
ऐसा ही अर्थ होता है परन्तु इसके अतिरिक्त श्री सागर-  
जी का अभिप्रेत अर्थ यहाँ बिल्कुल आदरणीय नहीं है ।

और भी देखिएँ - श्राद्धविधि के पृष्ठ ७७ पर दी  
हुई "कर्मसार-पुण्यसार" नामक दो भाईओं की कथा  
के अन्त में लिखा हुआ है-

“ततो महेभ्य-सुश्रावकतया सम्यग्ज्ञान-साधारण-  
द्रव्यरक्षा- तदुत्सर्पणादिना श्राद्धधर्ममाराध्य प्रव्रज्जे  
च सिद्धौ”

अर्थात्-तत्पश्चात् उन दोनों बन्धुओं ने महान् श्रीमन्त  
और श्रावक बनकर, ज्ञानद्रव्य और साधारणद्रव्य की  
रक्षा तथा वृद्धि आदि करते हुए श्रावकधर्म की आरा-  
धना की। तदुपरान्त दीक्षा ग्रहणकर मोक्ष प्राप्त  
किया।

विचारिए, इस पाठ में ‘उत्सर्पण’ शब्द किस अर्थ  
में प्रवर्तमान है? ‘स्पर्धापूर्वक चढ़ावा करना (बोलना)’  
यह अर्थ, इस उत्सर्पणशब्द के साथ किञ्चित् भी संबंध  
रखता है क्या? स्पष्ट है कि यह ‘उत्सर्पण’ शब्द  
सामान्यतया ‘वृद्धि’ अर्थ को ही बता रहा है।

और भी देखिए-‘संबोधसप्तति’ के पृष्ठ ५१ पर आई  
हुई “जिणपवयणवुड्ढिकरं” गाथा की वृत्ति प्रस्तुत मत-  
भेद पर कितना अनुपम आलोक प्रदान करती है।

“तथा ज्ञानदर्शनगुणानां प्रभावकम् उत्सर्पणाकार-  
कम्” अर्थात्-“ज्ञानदर्शन गुणों को प्रभावना करने  
वाला अर्थात् उन गुणों की ‘उत्सर्पणा’ करने  
वाला अथवा उन गुणों को विकसित करने वाला।”  
अब बताइएँ, यहाँ, ‘उत्सर्पण’ शब्द का ऐसा अर्थ कर

सकेंगे क्या ? ज्ञानदर्शन गुणों का सस्पर्धा चढ़ावा करने वाला अथवा उन गुणों की बोली बोलने वाला ?

पुनः श्राद्धविधि के पृष्ठ ७० पर 'तदाय - व्ययादौ सुव्यक्तं लेख्यकम् । स्वयं परैश्च द्रव्यार्पण-देवदायप्रवर्त-नादिविधिना तदुत्सर्पणम् × × ×''

इस प्रकार का पाठ है, इसका अर्थ है—देवद्रव्य के आय-व्यय का हिसाब सुस्पष्ट रखना चाहिए और स्वयं द्रव्य देकर तथा दूसरों के पास से दिलवाकर एवं देव-भाग को रखकर और रखवाकर देवद्रव्य की वृद्धि करनी चाहिए ।''

देखिएँ—इस पाठ में आये हुए 'उत्सर्पण' शब्द का 'बोली बोलना' अर्थ हो सकता है क्या ?

'महानिशीथ' सूत्र के तृतीय अध्ययन में लिखा है कि—

“अरिहंताणं भगवंताणं गंधमल्लपईवमज्जणोबलेवण-विचित्तबलिवत्थधूवाइएहिं पूआक्सकारेहिं पइदिणमब्भ-च्चणं पक्कुव्वाणा तित्थुच्छप्पणं करमो”

अर्थात्— “अरिहंत भगवन्तों की गंध, माला, दीपक, संमार्जन, लेपन, वस्त्र, धूपादिक, पूजासत्कार, द्वारा प्रति-

दिन अर्चना करते हुए, हमें तीर्थ की उन्नति करनी चाहिये ।”

देखिए— इसमें भी ‘उत्सर्पण’ शब्द का ‘उन्नति’ अर्थ में ही प्रयोग हुआ है; इसका अर्थ बोली बोलना नहीं है ।

‘उत्तराध्ययन’ सूत्र के पञ्चमाध्याय की गाथा ३१ की टीका में लिखा हुआ है—

“यदा योगा नोत्सर्पन्ति” ।

अर्थात्-मन-वचन-काया के व्यापार जब प्रफुल्लित न हो, विकस्वर न हो अर्थात् मन-वचन और शरीर बराबर चलते न हों ।”

देखिए—यहाँ भी उत्सृप् धातु का अर्थ बोली बोलना नहीं होता है, यह सुस्पष्ट है ।

‘उत्सर्पण’ शब्द के ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं किन्तु विस्तार भय से उन सबको नहीं दिया गया है ।

श्राद्धविधि के पृष्ठ ६० पर ‘आरती’ का प्रकरण चला है और उस में विस्तृत वर्णन किया गया है, परन्तु वहाँ बोली बोलने का नाम भी नहीं है । यह क्या बता रहा है ? यही कि बोली बोलने की प्रथा शास्त्रीय नहीं है ।



इससे निःसंदेह समझ सकते हैं कि 'उत्सर्पण' का अर्थ, 'बोली बोलना' या 'चढ़ावा करना' होता ही नहीं है। पूज्यपाद श्रीमान् जैनाचार्य श्री आत्मारामजी महाराज ने भी अपने "जैन तत्त्वादर्श" में श्राद्धविधि के पंचम प्रकाश में बताये हुए ११ कृत्यों का जहाँ वर्णन किया है, वहाँ ११ कृत्यों में 'जिनघनवृद्धि' के विषय में चढ़ावे संबंधी कुछ भी उल्लेख नहीं किया है। देखिए— "तथा देवद्रव्य की वृद्धि वास्ते प्रतिवर्ष मालोद्धट्टन करे, इन्द्रमाला और माला भी यथाशक्ति करे, ऐसे ही पहरावणी, नवीन धोती, विचित्र प्रकार का चंदुआ, अंगलूहणाँ, दीपक, तेल, जातिवंत केसर, चन्दन, बरार कस्तूरी प्रमुख चैत्योपयोगी वस्तु, प्रतिवर्ष यथाशक्ति से देवे।"

पृष्ठ ४७४

इससे वाचकवृन्द समझ सकता है कि श्राद्धविधिकार ने 'जिनघनवृद्धि' के लिए उत्सर्पणपूर्वक आरती उतारने का जो कथन किया है उसका अर्थ 'बोली बोलने के द्वारा आरती उतारना'। यदि ऐसा अर्थ होता तो श्री आत्मारामजी महाराज नहीं करते क्या? जब उन्होंने भी ऐसा अर्थ नहीं किया तब फिर उस अर्थ की खींचतान करना व्यर्थ है।

स्वयं श्राद्धविधिकार महाराज भी, “देवद्रव्यस्य वृद्धिर्मालोद्धट्टेनेन्द्रमालादि” इस प्रस्तुत पाठ का विवरण पृष्ठ १६६ पर देते हुए ‘उत्सर्पण’ शब्द का ‘बोली बोलना या चढ़ावा करना’ अर्थ लिखते ही नहीं हैं। देखिए—“एवं परिधापनिकानव्यधौतिकविचित्रचन्द्रो-दयाङ्गरूक्षणदीपतैलजात्यचंदनकेसरभोगाद्यपि चैत्यो-पयोगि प्रतिवर्षं यथाशक्ति मोच्यम्”।

इसका अर्थ यह है कि—“पहेरामणी, नवीन धोती, विचित्र चन्द्रवा, अंगलूहणे, दीपक, तैल, उत्तम चंदन, केसर वगैरह चैत्योपयोगी वस्तुएँ प्रतिवर्ष रखनी चाहिये।”

अब विचारिए कि ‘उत्सर्पण’ का अर्थ ‘बोली बोलना’ ही होता तो स्वयं श्राद्धविधिकार ही ऐसा अर्थ नहीं कर देते? जब श्राद्धविधिकार स्वयं ‘उत्सर्पण’ शब्द का अर्थ ‘बोली बोलना’ नहीं करते हैं तब फिर उनके विपरीत अर्थ हम कैसे कर सकते हैं?

“शब्दचिन्तामणि”, “शब्दस्तोत्रमहानिधि” आदि कोषों में भी उत्सृप् धातु का अर्थ, “उत्सृज्य पुरतो गतौ” अर्थात् छोड़कर आगे जाना, इस प्रकार किया गया है। ‘उर्ध्वगमन’ ‘उल्लंघन’ इस प्रकार के अर्थ भी मिलते हैं परन्तु ‘बोली बोलना’, ‘स्पर्धापूर्वक चढ़ावे करना’, इस

प्रकार का अर्थ कही भी नहीं मिलता है। एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि प्रस्तुत प्रकरण में 'उत्सर्पण' का अर्थ उल्लंघन घटित नहीं होता है क्योंकि 'द्रव्योत्सर्पण पूर्वक आरती उतारना' इसके स्थान पर 'द्रव्य के उल्लंघन पूर्वक आरती उतारना' यह विपरीत अर्थ कैसे कर सकते हैं? 'द्रव्य के उल्लंघन पूर्वक- द्रव्य के अतिक्रमण पूर्वक आरती उतारना' हो ही नहीं सकता है किन्तु द्रव्य के संबंधपूर्वक ही आरती उतारी जाती है। यह तो एक बच्चा भी समझ सकता है।

'ऊर्ध्वगमन' 'अग्रगमन' अर्थ भी प्रस्तुत प्रकरण में घटित नहीं होता है। कदाचित् उन शब्दों को वृद्धि के अर्थ में ले तो भी कुछ हानि नहीं है और उत्सृष्ठातु का सामान्यतया 'वृद्धि' अर्थ ही सर्वत्र प्रचलित है। देखिए—

“वृद्ध्यर्थे कथिता वृद्धिर्बंधते तद्वदेधते ।

ऋध्नोति ऋद्ध्यते द्वे च स्फायते चोपचीयते ॥ ६४ ॥

प्ररोहत विसरति प्रसरत्यतिरिच्यते ।

भृशायते तथा मूच्छंत्युत्सर्पति विसर्पति ॥ ६५ ॥

—क्रियाकलाप युग्मम्

ऊपर गिनाये 'वृद्ध्यर्थक' धातुओं में 'उत्सर्पति' धातु भी है, परन्तु इस प्रकार उत्सृष् धातु का वृद्धि अर्थ

देखकर प्रतिवादी महाशय को जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। 'द्रव्य के उत्सर्पणपूर्वक' अर्थात् 'द्रव्य की वृद्धि पूर्वक आरती उतारना।' यह अर्थ बोली बोलने के अर्थ को किञ्चित् भी स्पर्श नहीं करता है। ध्यान रहना चाहिये कि 'द्रव्य की स्पर्धापूर्वक बोली बोलना' और 'द्रव्य की वृद्धि' इन दोनों में महान् अन्तर है। आरती उतारने वाले आरती में पैसे, रुपये, गिन्नी आदि रखकर आरती उतारते हैं। यह बात किसी से अज्ञात नहीं है। यह प्रथा वर्तमान में भी सुप्रचलित है। यह 'द्रव्य की वृद्धि' है या दूसरा कुछ? इस प्रकार 'द्रव्य की वृद्धि पूर्वक आरती उतारना' सरल अर्थ होने पर भी बीच में 'बोली बोलना' अर्थ घुसेड़ देना कितनी धृष्टता कहीं जायेगी?

भगवान् हेमचन्द्र अभिधान चिन्तामणि में "उत्सर्पो भवानामेव रोहत्प्रकर्षता, सोऽस्यामस्तीति उत्सर्पिणी कहा है वह उचित ही है। इससे प्रस्तुत प्रकरण में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं होती है। विशिष्ट उदार भाव से द्रव्य रखकर आरती उतारना, यही भावार्थ 'द्रव्योत्सर्पण पूर्वक आरात्रिकविधान' वाक्य का है। 'द्रव्य का उत्सर्पणपूर्वक' अर्थात् 'द्रव्य का रोहत्प्रकर्ष-पूर्वक ऐसा अर्थ सहर्ष कर सकते हैं इसमें किसी प्रकार

की बाधा नहीं है, परन्तु 'द्रव्य का सस्पर्धा चढ़ावा' ऐसा अर्थ तो हो ही नहीं सकता है। 'द्रव्य का अधिक प्रकर्ष' अर्थात् यथाशक्ति आरती में विशेष द्रव्य रखकर आरती उतारना चाहिये। यही अर्थ उपयुक्त है। इस प्रकार सरल और हृदयंगम अर्थ को छोड़कर अन्य अयुक्त अर्थ करना एक विद्वान् के लिए शोभास्पद नहीं है।

काल के अर्थ में आने वाले 'उत्सर्पिणी' शब्द का अर्थ, सागरजी महाराज क्या ऐसा करते हैं कि-रूप, रस आदि गुणों की बोली बोलने वाला अथवा चढ़ावा करने वाला। 'उत्सर्पिणी' काल को वे यदि रूपरसादि गुणों की बोली बोलने वाला नहीं करते हैं, तो फिर प्रस्तुत प्रकरण में द्रव्योत्सर्पणपूर्वक आरती उतारने के संबंध में 'द्रव्य का उत्सर्पणपूर्वक' का अर्थ 'बोली बोलना' क्यों करते हैं? और अर्धजरतीय न्याय के दोष की ओर दृष्टि-पात क्यों नहीं करते हैं? कालवाचक 'उत्सर्पिणी' शब्द में जो धात्वर्थ रहा हुआ है वह 'उत्सर्पण' में भी बराबर है। देखिएँ कुछ सोचिए— 'उत्सर्पिणी' शब्द का अर्थ 'बढ़ाने वाला' या 'विशेष बढ़ाने वाला' इतना ही है, परन्तु इतने से काल का अर्थ स्पष्ट नहीं होने के कारण रूपरसादि का अंधाहार किया जाता है, तात्पर्य रूप-

रसादि गुणों को बढ़ाने वाला 'उत्सर्पिणी' काल कहा जाता है। अब इस प्रकार का शब्दार्थ 'उत्सर्पण' शब्द में बराबर ठीक लागू होता है या नहीं, इसका विचार कीजिए। द्रव्य के उत्सर्पणपूर्वक आरती उतारना अर्थात् द्रव्य की वृद्धिपूर्वक आरती उतारना। इसका मतलब, 'बोली बोलने के द्वारा आरती उतारना' यह तो अर्थ कर ही कैसे सकते हैं? परन्तु आरती में पैसों, रुपयों, गीन्नी आदि डालकर इस प्रकार द्रव्य की वृद्धिपूर्वक आरती उतारना चाहिए, ऐसा अर्थ हो सकता है और यही सीधा और सरल अर्थ है। 'उत्सर्पण' शब्द का अर्थ यदि 'बोली बोलना' करेंगे तो कालवाचक 'उत्सर्पिणी' शब्द में भी वैसा ही अर्थ करना पड़ेगा, अर्थात् उत्सर्पिणी काल कैसा है? तो कहना पड़ेगा कि रूपरसादि गुणों की बोली बोलने वाला है बोली का चढ़ावा करने वाला है। सागरजी महाराज को ऐसा अर्थ इष्ट है क्या? यदि नहीं तो 'उत्सर्पण' शब्द का अस्मदभिप्रेत अर्थ की ही शरण लेनी पड़ेगी।

'उत्-सृप्' का अर्थ 'त्याग', 'अर्पण' यदि करते हैं तो यह अर्थ समुचित है क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार 'उत्सर्पिणी' का अर्थ ( रूपरसादि गुणों को ) 'अर्पण करने वाला' 'विशेष-विशेष करने वाला' होता है। 'द्रव्य का उत्सर्पण' अर्थ भी द्रव्य का 'अर्पण' ही होता है अर्थात्

‘द्रव्य को अर्पणकर स्वशक्ति के अनुरूप ‘द्रव्य डालकर आरती उतारना’ ऐसा अर्थ होता है। देखिएँ दोनों शब्दों (उत्सर्पिणी और उत्सर्पण) की एक वाक्यता कैसी है ? उपसंहार—

‘उत्सर्पण’ शब्दार्थ के विषय में जैनेतर और जैन-ग्रन्थों के उदाहरणों को देखा और इससे यह भी समझ गये कि आनन्दसागर जी महाराज उस शब्द का कैसा अर्थ करते हैं ? अब हम यही इच्छा करेंगे और आशा रखेंगे कि सागर जी महाराज अपनी गलती को स्वीकार कर, उदारता प्रकटकर हमें भी नम्रता और गुण ग्राहकता का पाठ सिखायेंगे, और समाज में उत्पन्न कोलाहल को शांत करने का महान् पुण्य प्राप्त करेंगे तथा इस प्रकार शासनसेवा का अद्भुत उदाहरण पेश कर जगज्जनों के लिये आदर्श रूप बनेंगे।

ॐ शान्तिः ।

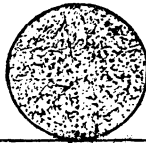
यद् देवाय समर्पितं भवति, तद् देवस्वमावेदितं  
स्वस्थीभूय विचारयन्तु विबुधा देवस्वलक्ष्मेदकम् ।

एवं च क्षतिरस्ति का भगवतां नीराजना-पूजनाद्य-  
देशार्पणसम्भवं यदि धनं नीयेत साधारणे ? ॥१॥

आदेशार्पणपद्धतिः सुविहिताचारो नहीति स्फुटं  
हीरप्रश्न उवाच हीरविजयः श्रीसूरिभट्टारकः ।

एवं च प्रतिपाद्यमेव सुधिया-मादेशदानप्रथा  
नो शास्त्रीयविधिः परं स्वमतितः संघेन सा कल्पिता ॥२॥  
अध्वा यः परिकल्पितो निजधिया संघेन, तत्रास्ति  
सोऽलम्भूष्णुः परिवर्तनं रचयितुं कः किं वदेत् खल्विह ?  
तस्मात् साम्प्रतमेव साम्प्रतमपि स्वं सर्वमादेशजं  
श्रीसाधारण एव संगमयितुं प्रस्तावनं संघतः ॥३॥  
देवद्रव्यं देवमात्रोपयोगि, सर्वक्षेत्राऽऽलम्बि साधारणस्वम्।  
सम्यग्ध्यात्वाऽऽचक्षतां श्रीमुनीन्द्राः कस्मिन्क्षेत्रे युज्यते  
भूरिपोषः ? ॥४॥

भो भोः ! पश्यत जैनवर्गमधुना सर्वाङ्गतो दुःस्थितं  
तस्योपेक्षणमभ्यधत्त भगवान् अश्रेयसे भूयसे ।  
प्रोद्धर्त्ता तमतः समग्रमुनिभिर्भाव्यं सुसज्जद्रुतं  
सर्वदिशसमुत्थसर्वविभवो नेयश्च साधारणे ॥५॥  
इति शास्त्रविशारद-जैनाचार्यश्रीविजयधर्मसूरिश्वर-  
चरणकमलमधुकर-न्यायविशारदन्यायतीर्थप्रवर्तकश्री-  
गलविजयसंदृब्धा 'उत्सर्पणशब्द मीमांसा' ।







श्री १०८ श्री गणेशाय नमः  
( ११११ )

श्री १०८ श्री गणेशाय नमः  
( ११११ )

श्री १०८ श्री गणेशाय नमः  
( ११११ )

श्री १०८ श्री गणेशाय नमः  
( ११११ )